दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९४ तंत्री-जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २४ अंक नं० ४

अचल ज्ञान

ज्ञान तो दीपक जैसा है; जिसप्रकार दीपक के प्रकाश में दिखायी देनेवाले पदार्थ कहीं दीपक के प्रकाश को मलिन नहीं करते, दीपक तो प्रकाशस्वरूप ही है; उसीप्रकार चैतन्य-दीपक के प्रकाश में परद्रव्य या शुभाशुभभाव दिखायी देते हैं, वे कहीं चैतन्य-दीपक के प्रकाश को मलिन नहीं करते, चैतन्य-दीपक तो प्रकाशस्वरूप ही है। ज्ञान तो सहज उदासीनस्वरूप है। राग को जानते हुए वह रागी नहीं हो जाता; तथा जड़ पदार्थों को जानते हुए जड़ नहीं हो जाता; वह तो अपने स्वरूप में अचल रहता है—ज्ञानचेतनारूप ही रहता है। धर्मी को ऐसी ज्ञानचेतना की अनुभूति है, उसके द्वारा वह मोक्ष को साधता है।

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

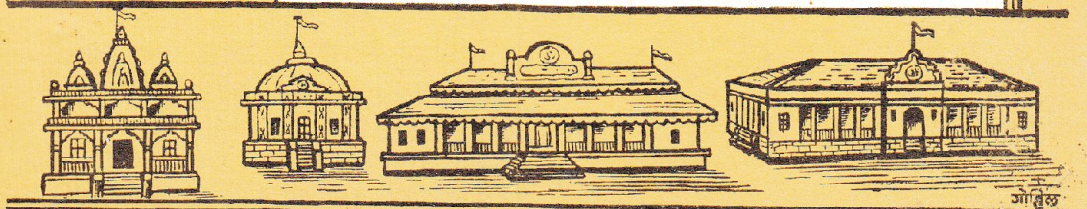

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अगस्त १९६८ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२८०) एक अंक २५ पैसा [आषाढ़ सं० २४९४

पूज्य बेनश्री का ५५वाँ जन्म-दिवस-समारोह एवं श्री प्रवचनसार (गुजराती) का प्रकाशन

भाद्र कृष्णा २ के दिन सोनगढ़ में पूज्य बेनश्री चंपाबेन का ५५वाँ जन्म-दिवस धामधूम से उल्लासपूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर बाहर से अनेक स्त्री-पुरुष पूज्य बेनश्री का अभिनंदन करने के हेतु आये थे, तथा बम्बई मुमुक्षु-मंडल की ओर से विशाल प्रीतिभोज दिया गया था। ५५वें जन्म-दिवस के उपलक्ष में ५५) रुपये की कई रकमें ज्ञान-प्रचार हेतु आयी थी।

श्री प्रवचनसार (गुजराती) परमागम की द्वितीयावृत्ति का प्रकाशन श्री अमृतचंद्राचार्य तथा श्री जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति टीका सहित आज दिन परम पूज्य श्री कानजीस्वामी के कर-कमलों द्वारा हुआ। इस ग्रंथ की प्रथम आवृत्ति का प्रकाशन आज से २० वर्ष पूर्व संवत् २००४ में हुआ था।

पंडित बनारसीदासजी कृत—'समयसार-नाटक'
एवं
पंडित टोडरमलजी कृत—'मोक्षमार्गप्रकाश' (द्वितीयावृत्ति)
को

सुंदर ढंग से प्रकाशित करने का निर्णय किया गया है। जो सज्जन १.२५) सवा रुपया प्रति पुस्तक के हिसाब से अग्रिम भेजकर अपना आर्डर लिखवा देंगे, उन्हीं को पुस्तकें भेजी जा सकेंगी। अत: निवेदन है कि—मुद्रणकार्य प्रारंभ होने से पूर्व ही अपना आर्डर एवं अग्रिम राशि भिजवा दें। पुस्तकें लागत मूल्य में या उससे भी कम में दी जायेंगी।

पता:—
श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

अगस्त : १९६८ ☆ श्रावण, वीर नि०सं० २४९४, वर्ष २४ वाँ ☆ अंक : ४

जीव और शरीर की भिन्नता

जीव और शरीर, दोनों वस्तुएँ बिल्कुल भिन्न होने पर भी मोह से जीव ऐसा मानता है कि शरीर मैं हूँ।

अब, जैसा यह शरीर है, ऐसे ही रंग-रूप-आकार वाला पत्थर का पुतला कोई बनाये तो उसे देखकर 'यह मैं हूँ'—ऐसा कोई नहीं मानता; परंतु जानता है कि यह तो कारीगर द्वारा बनाया गया पत्थर का पुतला है, यह मैं नहीं हूँ। तो फिर यह शरीर भी परमाणुरूपी कारीगरों द्वारा निर्मित पत्थर का पुतला ही है—पत्थर की जाति के ही परमाणुओं का बना हुआ है; उसे देखकर 'यह मैं हूँ'—ऐसा कौन मानेगा? शरीर तो जड़ का बना हुआ पुतला है; वह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं तो चेतनरूप जीव हूँ। शरीर और जीव की ऐसी भिन्नता को समझना, वह जैनधर्म का पहला पाठ है।

वक्ता और श्रोता के आत्मा में सिद्ध भगवंतों को उतारकर

समयसार का अपूर्व मंगलाचरण

मंगलाचरण में सिद्ध भगवंतों का आदर करके आचार्यदेव नमस्कार करते हैं कि—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गई पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं॥
ध्रुव अचल अरु अनुपमगति पाये हुए सब सिद्ध को।
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृत को अहो॥

अहो, समयप्राभृत का प्रारंभ करते हुए सर्व सिद्ध-भगवंतों को आत्मा में उतारकर आचार्यदेव अपूर्व मंगलाचरण करते हैं और श्रोताओं को भी साथ रखते हैं। आत्मा में साधक स्वभाव का प्रारंभ हो, वह अपूर्व मंगल है। आत्मा का परम ध्येय ऐसा जो सिद्धपद, उसे साधने का जो भाव प्रगट हुआ अर्थात् सिद्धस्वभावसन्मुख जाना आरंभ किया, वही मंगलाचरण है।

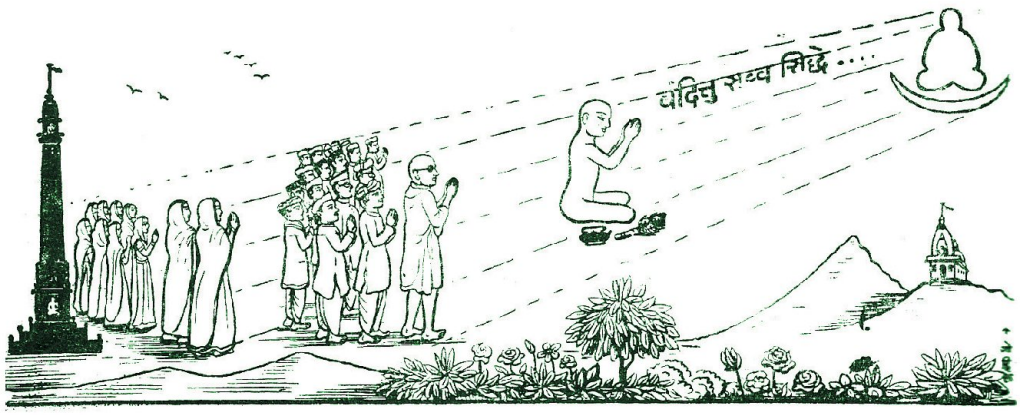

अभी तक अनंत सिद्ध भगवंत हुए, उन सबको भावस्तुति तथा द्रव्यस्तुति द्वारा अपने तथा पर के आत्मा में स्थापित करके यह समयसार प्रारंभ करता हूँ। भावस्तुति अर्थात् निर्विकल्प शांतरस का परिणमन; और द्रव्यस्तुति अर्थात् सिद्धों के बहुमान का विकल्प तथा

वाणी—ऐसे दोनों प्रकार से स्तुति करके अपने तथा श्रोताओं के आत्मा में अनंत सिद्ध भगवंतों को स्थापित करता हूँ। मेरा आत्मा कितना ?—तो कहते हैं कि—अनंत सिद्धों को अपने में समा ले इतना! आत्मा में जहाँ सिद्धों की स्थापना की, वहाँ अब उसमें राग नहीं रह सकता। जहाँ सिद्धों का आदर किया, वहाँ राग का आदर नहीं रहता, अर्थात् अपने में सिद्धों की स्थापना करते ही राग के साथ की एकत्वबुद्धि टूट जाती है। पंचम काल का साधक आत्मा अपने सिद्धपद के लिये प्रस्थान करता है... **हे सिद्ध भगवंत! मैं सिद्धपद को साधने चला हूँ, वहाँ प्रारंभ में ही अपने आत्मा में आपकी स्थापना करता हूँ। और हे श्रोताजनों! तुम्हारे आत्मा में भी सिद्धत्व स्थापित करता हूँ... तुम उल्लासपूर्वक उसे स्वीकार करना।** अस्वीकार मत करना! हमारा श्रोता ऐसा ही होता है—जो अपने आत्मा में सिद्धत्व स्थापित करके सुने... राग में स्थित रहकर नहीं सुनता, परंतु पहली ही बार में उसके अंतर से सिद्धपद की झंकार उठती है! 'मैं सिद्ध... तू भी सिद्ध..!' ऐसा सुनते ही अंतर में स्वीकृति की ध्वनि गूँज उठती है।

यह समयसार भरतक्षेत्र का अलौकिक अमृत-रस से भरपूर शास्त्र है। मंगलाचरण में ही सिद्धपद की स्थापना करके साधकपने का अपूर्व प्रारंभ कराता है।

अहा, चैतन्य के साथ संबंध जोड़ने से निर्मल साधकभाव की संतति आरंभ होती है। जो साधक पूर्ण सिद्धपद का ध्येय लेकर चला, वहाँ उसका पुरुषार्थ भी वैसा ही होता है। अहो, अनंत परमात्माओं! हमारे चैतन्य में इतना अवकाश है कि हम अनंत सिद्धपरमात्मा सर्वज्ञों की अपने में स्थापना करते हैं।

अनादि काल से अब तक अनंत सिद्ध हुए, उन्हें प्रतीति में लेकर तथा उनके मार्ग को प्रतीति में लेकर चैतन्य की सन्मुखता द्वारा स्वयं भी उनकी जाति में मिलते हैं। हे सिद्ध भगवंत! अब मैं आपकी जाति में सम्मिलित होता हूँ; संसार से पृथक् होकर सिद्ध की-शुद्धात्मा की जाति में मिलता हूँ।

मैं अपने तथा श्रोता के—दोनों के आत्मा में सिद्धों को स्थापित करता हूँ—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने प्रारंभ से ही श्रोता को साथ लेकर बात की है।

—इसप्रकार सर्व सिद्धों को आत्मा में स्थापित करके इस समयसार का भाववचन से (श्रुतज्ञान से) तथा द्रव्यवचनरूप वाणी से परिभाषण करते हैं। जैसा प्रारंभ किया, वैसी पूर्णता हुई है... अलौकिक रचना है। अहा, भरतक्षेत्र में जन्म लेकर जिन्होंने देहसहित विदेहक्षेत्र के

तीर्थंकर भगवान के साक्षात् दर्शन किये, उनकी पात्रता एवं पुण्य की क्या बात!!

सिद्ध भगवंतों को पहिचानकर तथा अपने आत्मा में वैसी शक्ति है, उसे जानकर—दोनों की प्रतीतिसहित अपने में सिद्धों की स्थापना की है। साध्य जो शुद्धात्मा, उसके प्रतीकरूप में सिद्ध भगवंत हैं; इसलिये वे ध्येयरूप हैं। उन सिद्ध भगवंतों के स्वरूप का चिंतवन करके तथा उनके समान अपने स्वरूप को ध्या-ध्याकर संसारी जीव भी उन जैसे सिद्ध हो जाते हैं। जिसने अंतर में सिद्धों की स्थापना की, वह उनका उत्तराधिकारी हुआ, वह सिद्धों का साधक हुआ... जैसे सिद्ध परमात्मा हैं, वैसा ही मैं हूँ, इसप्रकार स्वभाव की मुख्यता करके राग को गौण कर दिया, स्वभाव में परम आस्था हुई, वह जीव सिद्धसमान अपने शुद्धात्मा को ध्याकर सिद्ध हो जाता है। जिसप्रकार बालक माता का दूध पी-पीकर पुष्ट होता है, उसीप्रकार साधक सिद्धसमान अपने शुद्धस्वरूप को ध्या-ध्याकर सिद्धपद को साध लेता है।

संसार की चारों गतियों से विलक्षण ऐसी जो पंचमगति, उसे शुद्धस्वरूप के ध्यान द्वारा इस समयसार के वक्ता और श्रोता अवश्य प्राप्त करते हैं, उसमें शंका को स्थान नहीं है। ऐसे उत्तमभावपूर्वक सिद्ध भगवंतों को आत्मा में पधराकर यह समयसार प्रारंभ किया है।

सिद्धगति स्वभावरूप है, संसार की चारों गतियाँ तो परभाव से उत्पन्न हुई हैं। कर्म के निमित्त से हुआ जो विभाव, उससे उत्पन्न हुई देवादि चारों गतियाँ अध्रुव हैं और यह पंचम गति तो स्वभावरूप होने से ध्रुव है, उसमें अब विनाशीकता नहीं है, वह सादि-अनंत ज्यों की त्यों बनी रहेगी। चारों विभाव गतियों को तथा उनके कारणरूप विभावभावों को अपने आत्मा में से निकालकर ऐसे सिद्ध भगवंतों को स्थापित किया है, इसलिये अब परिणति का प्रवाह विभाव की ओर से स्वभाव की ओर मुड़ गया है। व्यवहार और निमित्त की उपादेयता को छोड़कर अकेले स्वभाव की उपादेयता को ही दृष्टि में लिया है। देखो, यह सिद्धपद के साधक का मंगलाचरण! 'पुत्र के लक्षण पालने में ज्ञात हो जाते हैं', उसीप्रकार जो सिद्धपद को साधने के लिये तत्पर हुआ, उसके ऐसे लक्षण प्रारंभ में ही होते हैं।

'काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग'

आत्मस्वभाव के सिवा अन्य कोई (-राग या विकल्प) उसका माहात्म्य प्राप्त कर लें—ऐसा नहीं है; उसके अंतर में तो एक शुद्ध आत्मा का ही माहात्म्य बस गया है। उससे अधिक माहात्म्य उसे जगत की किसी अन्य वस्तु का आ जाये, ऐसा नहीं हो सकता। 'सिद्ध-

सिद्ध' की झंकार लेकर जागृत हुआ वह अन्यत्र कहीं रागादि में नहीं अटकता। देखो, यह **सिद्धपद के लिये साधक का महा मंगलाचरण!**

केवली तथा श्रुतकेवली भगवंतों द्वारा कथित इस समयप्राभृत को मैं अपने और पर के लिये कहूँगा। सिद्ध समान आत्मा को ध्येयरूप रखकर इसका प्रारंभ किया है, इसलिये ध्येय को चूकना नहीं। आचार्यदेव को स्वयं तो मिथ्यात्वादि मोह का नाश हुआ है, परंतु अभी किंचित् संज्वलन कषाय शेष है, उसका नाश करने के लिये यह समयसार का परिभाषण करते हैं और श्रोताओं में जिसे जिसप्रकार का मोह हो, उसका नाश करने के लिये इसका श्रवण करना... अर्थात् वक्ता और श्रोता में जिसे जिसप्रकार का मोह हो, उसका नाश करने के लिये इस समयसार का प्रारंभ किया जाता है। जो इसे समझेगा, उसके मोह का नाश हो जायेगा और वह सिद्धपद प्राप्त करेगा—ऐसा आचार्यदेव का निश्चय है।

भाई-बहिन

शुद्धोपयोग, वह मोक्षार्थी जीव का भाई है, क्योंकि वह शुद्धोपयोग मोक्ष में जाने के लिये भाई समान सहायक है। और निर्मल सम्यक् दृष्टिरूप परिणति, वह भद्रस्वभाववाली बहिन है- कि जो मोक्षार्थी आत्मा पर उपकार करती है।

सम्यक्दृष्टिरूप परिणति, वह आत्मा की मुख्य एवं निश्चित् उपकार करनेवाली बहिन है; वह निर्मल आत्मदृष्टिरूपी भगिनी सर्व भय का नाश करके आनंद प्रदान करती है।

[अष्ट प्रवचन से]

आत्मा का परमार्थ स्वरूप... उसे पहिचानने का चिह्न

[प्रवचनसार, गाथा -१७२ के प्रवचन से]

शरीरादि सब पुद्गल-रचना है, वह जीव नहीं है। जीव अपने असाधारण लक्षण द्वारा शरीर से भिन्न है। वह लक्षण क्या है ?—कि जिसके द्वारा परद्रव्यों से भिन्न जीव के यथार्थ स्वरूप की पहिचान हो और भेदज्ञान होकर वीतरागी आनंद मिले... उसका यह वर्णन है।

अरसपना आदि बोलों द्वारा जीव की पुद्गल से भिन्नता जानी जाती है और अपने स्वाभावाश्रित ऐसे चेतनागुण द्वारा आत्मा अन्य समस्त पदार्थों से भिन्न प्रतीति में आता है।

'अलिंगग्रहण' आत्मा कहा, उसमें से अमृतचंद्राचार्य ने बीस अर्थ निकालकर अलौकिक आत्मस्वरूप समझाया है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है... कैसा ज्ञान ? तो कहते हैं कि अतीन्द्रिय ज्ञान... ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञानमय आत्मा ऐसा नहीं है कि इन्द्रियों द्वारा जाने। पाँच इन्द्रियोंरूपी लिंग द्वारा जिसे ग्रहण नहीं है, इन्द्रियों द्वारा जो जानता नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। अकेली इन्द्रियों की ओर का बोध, वह सच्चा बोध नहीं है, वह आत्मा का सच्चा चिह्न नहीं है। इन्द्रियज्ञानरूप व्यवहार होने पर भी वह सच्चा आत्मा नहीं है। आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय है।

अतीन्द्रिय ज्ञान कहो या सर्वज्ञता कहो। 'सर्व' जो शब्द है, वह शब्दसमय; उसके वाच्यरूप सर्व पदार्थ हैं, वे अर्थसमय, और जाननेवाला सर्वज्ञतारूप ज्ञान, सो ज्ञानसमय; इसप्रकार तीनों समय सत् हैं; उस सत् की प्ररूपणा है; जो हो उसकी प्ररूपणा और उसका ज्ञान होता है। उसे 'सत्पद प्ररूपणा' कहा जाता है। ज्ञान में 'सर्वज्ञता' माने बिना सर्वपदार्थों की सत्ता का यथार्थ स्वीकार नहीं हो सकता।

इन्द्रियों से भिन्न आत्मा—वह कब जाना कहलाता है ?—कि स्वयं अतीन्द्रिय होकर जाने तब। इन्द्रियों की ओर ही रहकर जानता रहे, ऐसा नहीं, परंतु अतीन्द्रिय होकर जाने, ऐसा आत्मा है।

आत्मा को कैसे पहिचाना जाये, उसका यह वर्णन है। जिस स्वरूप से आत्मा को पहिचानने से सम्यग्दर्शन हो—उसकी यह बात है। इन्द्रियाँ तो आत्मा से भिन्न ही हैं; उन इन्द्रियों की ओर उन्मुख ज्ञान में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा का लक्षण हो सके। उस इन्द्रियज्ञान में ऐसी शक्ति भी नहीं है कि अतीन्द्रिय पदार्थों को (आकाश आदि को) जान सके। अतीन्द्रिय ज्ञानमय आत्मा में ही ऐसी शक्ति है कि सर्व पदार्थों को जाने। ऐसी अतीन्द्रिय ज्ञान शक्तिवाला आत्मा है।

प्रश्न:—वर्तमान में तो इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञात होता है ?

उत्तर:—नहीं, इन्द्रियों द्वारा तो आत्मा कभी जानता नहीं है, परंतु इन्द्रियों की ओर का ज्ञान भी वास्तव में आत्मा नहीं है। जो इन्द्रियज्ञान को ही देखे, वह सच्चे आत्मा को नहीं देख सकता। इन्द्रियातीत ज्ञान को देखे, वही सच्चे आत्मा का अनुभव करता है। इन्द्रियाँ अर्थात् लिंग, उसके द्वारा ग्रहण करे-जाने, ऐसा आत्मस्वभाव नहीं है, परंतु उस लिंग के बिना जाने, ऐसा अलिंगग्रहण आत्मा है... इसप्रकार आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है—ऐसा अलिंगग्रहण का अर्थ समझ में आता है, अर्थात् अतीन्द्रियज्ञानमयभाव प्राप्त होता है, अनुभव में आता है।

आत्मा स्वयं कर्ता होकर इन्द्रियज्ञान द्वारा जाने, ऐसा नहीं है अर्थात् अतीन्द्रियज्ञानमय है—ऐसा प्रथम अर्थ में कहा।

अब, दूसरे जीवों को इन्द्रियज्ञान द्वारा ज्ञात हो—ऐसा आत्मा नहीं है अर्थात् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो, ऐसा आत्मा नहीं है। अतीन्द्रिय हुए ऐसे देव-गुरु के आत्मा को इन्द्रियज्ञान द्वारा कोई जान सके, ऐसा नहीं होता। इन्द्रियज्ञान द्वारा कोई ऐसा माने कि मैंने अरिहंतदेव को या ज्ञानी को पहिचान लिया, तो वह पहिचान सच्ची नहीं है।

❀ आत्मा इन्द्रियों द्वारा जानता नहीं है,

❀ आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता

—ऐसे दो बोल कहे हैं।

अहा, आत्मा इन्द्रियातीत ज्ञानस्वरूप है; उसे पहिचानने की यह रीति कही जा रही है; उसका असाधारण स्वरूप बतलाया जा रहा है।

प्रत्यक्षस्वरूप आत्मा है, उसके सन्मुख पर्याय हुई, वह भी प्रत्यक्ष हो गयी—अतीन्द्रिय हो गयी; उसके द्वारा आत्मा का ग्रहण होता है अर्थात् आत्मा अनुभव में आता है। चौथे गुणस्थान में भी आत्मा का अनुभव करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अतीन्द्रिय हो गया है। आत्मा के

अनुभव में गई हुई पर्याय प्रत्यक्ष हो जाती है और उस प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष होता है।—इसके सिवा इन्द्रियज्ञान से आत्मा ज्ञात नहीं होता।

जिसप्रकार धुएँ द्वारा अग्नि का अनुमान हो सकता है, उसीप्रकार आत्मा का अनुमान किसी इन्द्रियगम्य चिह्न द्वारा नहीं हो सकता। 'ऐसी भाषा है, इसलिए यह ज्ञानी है'—इस प्रकार सच्चा अनुमान नहीं हो सकता। इन्द्रियप्रत्यक्ष किसी वस्तु से अतीन्द्रिय आत्मा को कभी नहीं जाना जा सकता। वह तो स्वानुभवप्रत्यक्षपूर्वक के अनुमान से ज्ञात होता है—अनुभव में आता है। प्रत्यक्षपनेरूप निश्चय के बिना व्यवहार कोई कार्य नहीं कर सकता। अनुमान द्वारा आत्मा अवश्य ज्ञात होता है, परंतु कैसा अनुमान?—इन्द्रियप्रत्यक्षवाला अनुमान नहीं परंतु आत्मप्रत्यक्षवाला अनुमान आत्मा का निर्णय कर सकता है। आँखें भगवान की प्रतिमा को देखकर स्थिर हो गयीं, इसलिये वह धर्मात्मा है, ऐसे अनुमान द्वारा धर्मी की पहिचान नहीं हो सकती। अकेले इन्द्रियज्ञान को भी निकाल दिया।

जातिस्मरणज्ञान में एक विशेष शक्ति है कि बाह्य में समस्त इन्द्रियगम्य चिह्न बदल जाने पर भी ऐसा स्पष्ट ख्याल आ जाता है कि यही आत्मा पूर्वभव में मेरे साथ अमुक सम्बन्धवाला था। जैसे कि—ऋषभदेव भगवान आठवें भव में जब वज्रजंघ राजा थे और रानी श्रीमती के साथ मुनियों को आहारदान दिया था... पश्चात् असंख्य वर्ष बीत गये, सात भव बदल गये, शरीरादि सामग्री एकदम पलट गई... तथापि जब श्री ऋषभदेव भगवान मुनिदशा में विचरते थे, तब श्रेयांस राजा उन्हें देखते ही जातिस्मरण की निर्मलता के बल से जान लेते हैं कि इन ऋषभदेव का आत्मा ही असंख्य वर्ष पूर्व आठवें भव में वज्रजंघ राजा था और मैं श्रीमती नाम की उनकी रानी था; उससमय हमने मुनिवरों को विधिपूर्वक आहारदान दिया था। इसप्रकार जातिस्मरण द्वारा आहारदान की विधि जानकर श्रेयांस राजा ने ऋषभ मुनिराज को पडगाहन करके विधिपूर्वक इस चौबीसी में भरतक्षेत्र में सर्वप्रथम आहारदान दिया था।

देखो तो, जातिस्मरणज्ञान की शक्ति! इन्द्रियगम्य चिह्न के बिना इतना जान लिया कि यही आत्मा पूर्व काल में वज्रजंघ राजा था... इसमें जरा भी शंका नहीं पड़ती। तो फिर अतीन्द्रिय होकर आत्मा को स्वज्ञेय बनाये, उस ज्ञान की कितनी शक्ति होगी? वह तो मोक्षमार्ग का साधक हुआ... केवलज्ञान की जाति का हुआ।

शुद्धात्मा मात्र अनुमान का विषय नहीं है। प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान हो, वही सच्चा अनुमान होता है। अपने आत्मा को प्रत्यक्ष किये बिना दूसरे आत्मा का अनुमान करने जाये तो

वह यथार्थ नहीं होता। अपने आत्मा को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष करे, तभी अरिहंत और सिद्ध आदि की सच्ची पहिचान होती है। मात्र परलक्ष्यी अनुमान, वह सच्चा नहीं है।

अहा! ज्ञानी का आत्मा तो राग से भिन्न ज्ञानपरिणतिरूप से परिणमित हो रहा है। जिसे अपने में राग और ज्ञान की भिन्नता लक्ष में आये, वही ज्ञानी को सच्चे रूप में पहिचान सकता है और उसी को ज्ञानी की पहिचान का सच्चा परमार्थ लाभ प्राप्त होता है। मात्र ऊपर-ऊपर से पहिचाने, उसमें सच्चा फल नहीं आता। जीव को अनंत बार ज्ञानी तो मिले, परंतु ज्ञानी के आत्मा को ज्ञानीरूप से पहिचाना नहीं; राग और शरीर पर दृष्टि रखकर ज्ञानी को भी उसी दृष्टि से देखा; परंतु राग से और शरीर से पार ऐसे चैतन्यभाव की दृष्टि से ज्ञानी को नहीं पहिचाना, इसलिए ज्ञानी की सच्ची उपासना उसने नहीं की।

अनुमानरूप लिंग द्वारा नहीं, परंतु सीधा अपने स्वभाव द्वारा जानने का जिसका स्वभाव है, ऐसा आत्मा है। पुण्य-पाप द्वारा, इन्द्रियों द्वारा आत्मा के आनंद का वेदन नहीं होता, परंतु अंतर्मुख स्वसंवेदनप्रत्यक्ष द्वारा स्वयं अपने आनंद का वेदन करनेवाला है। अंतर का अनुभव करनेवाला जो प्रत्यक्ष अंश है, वह आत्मा का स्वभाव है; सहजभाव वह आत्मस्वभावरूप है। आत्मा आत्मभाव द्वारा ज्ञात होता है; वह परभाव द्वारा ज्ञात नहीं होता।

अपने में जो राग से लाभ मानता है, शरीर की क्रिया को अपनी मानता है, वह सामनेवाले जीवों में भी राग को और शरीर की क्रिया को ही देखता है; इसलिये उसका अनुमान भी सच्चा नहीं होता; आत्मा का सच्चा स्वरूप उसके अनुभव में नहीं आता। आत्मा शरीरवान नहीं है, वह तो अरूपी-अशरीरी है। आत्मा रागयुक्त भी नहीं है और इन्द्रियज्ञान अथवा मन के अवलम्बनयुक्त मात्र परलक्षी अनुमान ज्ञान, वह भी परमार्थ आत्मा नहीं है; आत्मा तो मात्र चैतन्यमय अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है। अतीन्द्रिय कहो या प्रत्यक्ष कहो—ऐसे ज्ञान द्वारा जानने का आत्मा का स्वभाव है।

लिंग अर्थात् आत्मा का चैतन्यचिह्न; आत्मा उपयोगलक्षणवाला है; वह ज्ञेय पदार्थों के अवलंबन द्वारा जानता है परंतु स्वाधीनरूप से जाननेवाला है। इन्द्रियों के अवलंबनयुक्त ज्ञान तो आत्मा का चिह्न नहीं है और मात्र बाह्य ज्ञेयों के अवलंबनवाला ज्ञान भी आत्मा का चिह्न नहीं है; परालम्बी भाव द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता। अपने आनंदस्वभाव का वेदन परालंबी नहीं है; पर के अवलंबन से ज्ञान नहीं है तथा सुख भी नहीं है!

परावलंबी भावरूप व्यवहार, वह सच्चा आत्मा नहीं है। मूर्ति आदि व्यवहार है अवश्य,

परंतु उस ज्ञेय के अवलंबन से शुभराग होता है, आत्मा का स्वभाव उस परालंबी भाव से रहित है। व्यवहार कैसा है और उसकी मर्यादा कितनी है ? तथा परमार्थ आत्मा कैसा है ? उस सबका विवेक करना चाहिये।

आत्मा पूर्ण सर्वज्ञशक्तिवान है; वह परज्ञेय के अवलंबन से खंड-खंड जाननेवाला नहीं है परंतु अपने स्वभाव का ही अवलंबन लेकर जाननेवाला है। उपयोग रागरूप होकर राग को नहीं जानता, परंतु उपयोग, उपयोगरूप रहकर ही राग को जानता है। उपयोग कभी अनुपयोगरूप नहीं होता। जिसप्रकार नमक घुलकर खारे पानीरूप होता दिखायी देता है, उसमें कोई विरोध नहीं है, परंतु उसीप्रकार उपयोगरूप आत्मा पलटकर कभी जड़रूप हो जाये—ऐसा नहीं होता; क्योंकि उपयोग की और जड़ की विरुद्धता है। उपयोगरूप आत्मा स्वयं उस राग का अवलंबन लेकर जानने के स्वभाववाला नहीं है। अहो, जगत के अवलंबन बिना जगत को जाननेवाला आत्मा है, मात्र अपने स्वभाव के अवलंबन से जाननेवाला आत्मा है। आचार्यदेव कहते हैं कि —हे भव्य! ऐसे आत्मा को तू जान! प्रत्यक्ष ज्ञानपूर्वक ऐसी आत्मप्रतीति, सो सम्यग्दर्शन है।

मोक्षमार्ग में साथ में राग हो, व्यवहार हो, परंतु उसके अवलंबन से मोक्षमार्ग टिका नहीं है; वह भिन्न ज्ञेयरूप है। उसके अवलंबन का माहात्म्य धर्मी को नहीं रहा है... प्रतिक्षण आत्मस्वभाव का अवलंबन लेता हुआ धर्मी जीव मोक्षमार्ग की निर्मलतारूप से परिणमित होता है, उसी को 'आत्मा' कहा जाता है। चैतन्यस्वभाव का ही अनुसरण करनेवाला उपयोग, वह आत्मा का चिह्न है।

चैतन्यचिह्नरूप जो लिंग अर्थात् उपयोग, उसे आत्मा कहीं बाह्य से ग्रहण नहीं करता, स्वयमेव ही उपयोगरूप होकर परिणमित होता है। राग में से या शब्दों में से ज्ञान आये, ऐसा नहीं है; तीक्ष्ण तलवार जैसी सूक्ष्म ज्ञानदृष्टि द्वारा आत्मा पकड़ में आता है। भाई, परवस्तु का उपयोग तू नहीं कर सकता; तू स्वयं उपयोगस्वरूप है, उसका उपयोग कर। पर में से ज्ञान या सुख लेना चाहेगा तो वह नहीं मिलेगा... अंतर में ज्ञान-सुख का समुद्र भरा है, उसमें से ज्ञान-सुख की अखंड धारा बहती रहती है। उपयोग को निजस्वरूप में लगाकर आत्मा स्वयमेव आनंदरूप परिणमित होता है। आनंदरूप परिणमित होने में आत्मा को किसी बाह्य वस्तु का अवलंबन नहीं है; उपयोग का उपयोगस्वरूप में लगना ही परम आनंद है। पहले उपयोग का

और परभाव का भेदज्ञान करके परभाव से भिन्न होकर निजभाव में आया, वहाँ आत्मा से ही आनंद का सागर उल्लसित होता है।

परभावों से भेदज्ञान करके आत्मा का उपयोग जहाँ अंतरोन्मुख हुआ, वहाँ उसे रोक सके, ऐसी कोई वस्तु जगत में नहीं है। जो परिणति द्रव्यस्वभावोन्मुख हुई, वह अब उससे विमुख नहीं हो सकती... स्वभाव में जो पर्याय तल्लीन हुई, उसका अब घात नहीं हो सकता; वह पर्याय जीवंत हो गई... कभी मरेगी नहीं।—ऐसे उपयोगमय आत्मा, वह परमार्थ आत्मा है। उसमें रागरूपी मैल नहीं है।

उपरागरहित उपयोग, वह आत्मा है; अंतर्मुख उपयोग—कि जिसमें राग का मैल नहीं है, कर्म का आवरण नहीं है—ऐसा जिसका स्वभाव है, वह आत्मा है। शुभाशुभराग में लगा हुआ उपयोग, वह वास्तव में आत्मा नहीं है। शुभ या अशुभ, वह आत्मा का लक्षण नहीं है। ऐसा रागरहित उपयोग (शुद्धोपयोग) चौथे गुणस्थान में भी सम्यग्दृष्टि को होता है। यदि चौथे गुणस्थान में ऐसा शुद्धोपयोग सर्वथा न माने, तथा मात्र शुभाशुभ उपयोग का ही होना माने तो उसे सम्यग्दर्शन-भूमिका की खबर नहीं है। स्वसन्मुख उपयोगरूप से शुद्धोपयोग निरंतर भले ही न रहे, परंतु सम्यक्त्व की उत्पत्ति के काल में तो स्वानुभूति में शुद्धोपयोग अवश्य होता है... और पश्चात् उपयोग कहीं अन्यत्र लगे, उस समय भी अनंतानुबंधी के अभावरूप शुद्धपरिणति तो सम्यग्दृष्टि को निरंतर वर्तती ही है; उस शुद्धपरिणति को भी शुद्धोपयोग कहा जाता है। राग के साथ एकमेकता रहित जो निर्मल उपयोग, वही शुद्धआत्मा का लक्षण है; उस लक्षण द्वारा आत्मा के परमार्थस्वरूप की प्रतीति होती है—अनुभव होता है।

आत्मा की ऊर्ध्वता

अद्भुत ज्ञानवैभववान आत्मा त्रिलोक का सार है। सर्व पदार्थों में आत्मा की ऊर्ध्वता है, क्योंकि आत्मा न हो तो जगत को जाने कौन? जगत है-ऐसा उसके अस्तित्व का निर्णय आत्मा के अस्तित्व में ही होता है। जगत का ज्ञाता ऐसा जो ज्ञानस्वरूप आत्मा, उसके अस्तित्व का स्वीकार किये बिना जगत के किसी पदार्थ के अस्तित्व का निर्णय नहीं हो सकता। इसलिये सर्व पदार्थों में आत्मा की ऊर्ध्वता है।

धर्मात्मा जीव कैसे होते हैं ?

[श्री समयसार गाथा ७५ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

भगवान आत्मा शरीर से भिन्न ज्ञानतत्त्व है; ऐसे आत्मा का ज्ञान होने से क्या होता है ? अर्थात् जो ज्ञानी हुआ, वह जीव किसप्रकार पहिचाना जाता है ? उसकी यह बात है। इसे समझने से अपने अंतर में भेदज्ञान होता है।

जड़-अचेतन से तो आत्मा सदा भिन्न है; अंतर में राग की वृत्ति से भी पृथक् जो ज्ञानतत्त्व, उसमें सर्वज्ञ होने की शक्ति है। आत्मा की शक्ति की प्रतीति करके जो सर्वज्ञ हुए उनका देखा हुआ और अनुभव किया हुआ आत्मतत्त्व कैसा है ? उसका चिह्न क्या है ? उसे जाने बिना धर्म नहीं हो सकता। ज्ञान एवं आनंद से भरपूर आत्मतत्त्व को अनुभव में लेकर जो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उनकी वाणी वह शास्त्र है। यह समयसार शास्त्र सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी है। सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी झेलकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इसकी रचना की है; इसकी ७५वीं गाथा में ज्ञानी का चिह्न बतलाते हुए कहते हैं कि—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी॥७५॥
जो कर्म का परिणाम अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो मात्र जाने, वो हि आत्मा ज्ञानी है॥

ज्ञानी अपने को ज्ञानस्वभावरूप जानता है, ज्ञान से भिन्न ऐसे कर्म या शरीरादि को अंशमात्र अपना नहीं मानता; ज्ञानभावरूप जो कार्य उसी को वह करता है। ऐसे ज्ञानकार्य के कर्तारूप से ज्ञानी पहिचाना जाता है।

अपने स्वरूप की सावधानी का अभाव, सो मोहभाव है। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—

उपजे मोह-विकल्प से समस्त यह संसार;
अंतर्मुख अवलोकते विलय होत नहिं वार।

ऐसे मोह का नाश किये बिना अर्थात् निजस्वरूप के अवलोकन बिना जीव ने व्रत-तप-त्याग-दान-दयादि शुभपरिणाम भी अनंत बार किये, परंतु जो सच्चा निजस्वरूप है, उसे न

समझने से संसार में ही भटका। यहाँ कहते हैं कि भाई, जो शुभराग है, वह कहीं ज्ञानी का चिह्न नहीं है। शुभराग द्वारा ज्ञानी की पहिचान नहीं होती; परंतु शुभाशुभ समस्त राग से भिन्न ऐसा जो ज्ञान, उस ज्ञान के कर्तारूप आत्मस्वभाव की पहिचान-अनुभूति, वह ज्ञानी का चिह्न है, ज्ञानी का कार्य है। राग, वह धर्मी का कार्य नहीं है; शरीर की क्रिया, वह धर्मी का कार्य नहीं है।

ज्ञानी को निजस्वरूप के अंतर्मुख अवलोकन से वीतरागी आनंदपर्याय प्रगट होती है, उसका वह कर्ता है, बहिर्मुखभावों का वह कर्ता नहीं है; उनसे तो वह अपने को भिन्न अनुभव करता है। राग, वह आत्मा से पृथक् हो जाता है; इसलिये वह आत्मभाव नहीं है, वह ज्ञानी का लक्षण नहीं है, वह ज्ञानी का कार्य नहीं है। ज्ञानी का कार्य तो ज्ञानमय होता है; चैतन्यरस के अनुभव की मस्ती ज्ञानी को कभी उतरती नहीं है।

आत्मा भगवान है... ज्ञान और आनंद से भरपूर महिमावंत तत्त्व है; कर्म और शरीरादि के परिणाम उससे बाह्य हैं, उनका कर्ता जीव नहीं है। जीव का स्वरूप क्या है, उसे जाने बिना ज्ञानी के चिह्न की खबर नहीं पड़ती। 'यह ज्ञानी हैं, यह धर्मात्मा हैं, यह मोक्षमार्ग के साधक हैं'—ऐसा किस लक्षण से जाना जाता है ? उसकी यह बात है। राग, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह आत्मा का लक्षण नहीं है; इसलिये राग की अनुभूति द्वारा ज्ञानी को नहीं जाना जा सकता। ज्ञानी ने अंतर में सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को जाना है, इसलिये वह ज्ञानपरिणाम को ही करता है। ऐसे ज्ञानपरिणाम के कर्तृत्व द्वारा ज्ञानी की पहिचान होती है। जिसे राग का कर्तृत्व है, वह ज्ञानी नहीं है; जिसे शरीर का-कर्म का-जड़ का कर्तृत्व है, वह ज्ञानी नहीं है। ज्ञानी अर्थात् ज्ञानसूर्य; उस ज्ञानसूर्य की किरणें तो निर्मल ज्ञानमय हैं, ज्ञान-किरणों में रागादि मलिनता नहीं है।

ज्ञानी को ज्ञानभूमिका में ज्ञान का ही कर्तृत्व है, राग का कर्तृत्व नहीं है; तथापि उस भूमिका के योग्य पूजा-भक्ति-यात्रा इत्यादि देव-गुरु के बहुमान के शुभभाव आते हैं, परंतु वे शुभभाव स्वयं कहीं ज्ञानी का चिह्न नहीं है। वह शुभराग ज्ञान का परज्ञेय है, वह ज्ञान का स्वज्ञेय नहीं है। जो राग का स्वज्ञेयरूप से अनुभव करता है, उसने अंतर के चैतन्यभंडार में ताला डाल दिया है। चैतन्य आत्मा प्रशमरस का शांत पिण्ड.... उसमें राग की आकुलता नहीं है। आत्मा का स्वज्ञेय तो ज्ञानमय है; जिसे जानने से आनंद प्रगट हो और जन्म-मरण का अंत आये, ऐसा परमतत्त्व आत्मा स्वज्ञेय है। आत्मा को स्वज्ञेय बनाने से सम्यग्दर्शन हुआ और आनंद का अनुभव प्रगटा, वही ज्ञानी का चिह्न है।

जिसप्रकार मिट्टी घड़े के साथ एकरूप होकर उसकी कर्ता है, उसीप्रकार ज्ञानी रागादि के साथ एकरूप होकर उसके कर्ता नहीं हैं, परंतु उससे भिन्नरूप उसके ज्ञाता ही हैं। जो ज्ञातापरिणाम है, उसके साथ एकरूपता से ज्ञानी उसके कर्ता हैं। उस ज्ञानपरिणाम में रागादि का कर्तृत्व नहीं है।—ऐसे ज्ञानपरिणाम द्वारा ज्ञानी की पहिचान होती है।

भगवान आत्मा रागादि से रहित चेतनस्वभावी है; तथापि जो राग द्वारा उसकी प्राप्ति होना मानता है, वह राग को ही आत्मा मानता है; रागरहित एवं ज्ञानरूप अपना अस्तित्व उसे भासित नहीं होता, इसलिये वह ज्ञानरूप नहीं होता परंतु अज्ञानी रहता है। शरीर एवं रागादिरूप से अपना अनुभव करना, वह अज्ञानी का लक्षण है।

ज्ञानपरिणाम और रागपरिणाम एक काल में वर्तते हों, उनमें से ज्ञानी तो ज्ञानपरिणाम में वर्तते हुए उसके कर्ता हैं, वे रागपरिणाम में तन्मयरूप से नहीं वर्तते और उसके कर्ता नहीं होते। धर्मी की दृष्टि में शुद्ध आत्मद्रव्य है, उसी का उसे प्रेम है। आत्मा का प्रेम छोड़कर जो पर, परभावों का प्रेम करता है, उसे अनंतानुबंधी क्रोध है, मिथ्यात्व है, वह संसार का मूल है। उस मूल को जिन्होंने सम्यग्दर्शन द्वारा छेद डाला है, ऐसे ज्ञानी की दशा कैसी अलौकिक होती है, उसकी यह बात है।

ज्ञानी आत्मपरिणामों का कर्ता है; आत्मपरिणाम अर्थात् मोक्षमार्ग के परिणाम। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निर्मल आत्मभाव है, वही धर्मी का कार्य है, उस कार्य के कर्तारूप में ज्ञानी को जाना जाता है। राग द्वारा तो आस्रव-बंध की पहिचान होती है, धर्मी की पहिचान उससे नहीं होती; धर्मी की पहिचान धर्म द्वारा होती है। धर्म अर्थात् ज्ञानपरिणाम, उस ज्ञानपरिणाम को ही कर्मरूप बनाकर उसके कर्तारूप से धर्मी का आत्मा परिणमित होता है। इसप्रकार पर से और राग से भिन्न आत्मा को स्वज्ञेय बनाया है, वही ज्ञानी की पहिचान है। राग से भिन्न ज्ञान का नमूना जिसने नहीं चखा, और अकेले राग का ही स्वाद लिया है, उसे ज्ञानी की पहिचान नहीं होती।

देखो, भगवान महावीर परमात्मा को ऐसी प्रतीति जन्म से ही थी; ऐसे स्वरूप से उन्हें पहिचाने तो भगवान को पहिचाना कहा जाये। अंतर में भगवान के कहे हुए ऐसे आत्मस्वरूप के लक्ष बिना उनका मार्ग हाथ नहीं आ सकता। जिसने शरीर से तथा राग से भिन्न चैतन्य की प्रतीति की, उसने महावीर भगवान की सच्ची स्तुति की है।

यह बाह्य शरीर तो अरूपी चैतन्य के ऊपर लपेटे हुए चमड़े जैसा है; आत्मा कहीं उसरूप नहीं हुआ है; उसके द्वारा आत्मा की पहिचान नहीं होती; आत्मा तो अपने स्वधर्म के द्वारा ही पहिचाना जाता है, इसलिये ज्ञान-आनंदरूप निर्मल परिणाम, वह आत्मा को पहिचानने का चिह्न है। ऐसे चिह्न आत्मा को पहिचानने से सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

सम्यग्दृष्टि रागादि को परज्ञेय जानता है; ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलता हुआ भाव तथा बहिर्मुखभाव—उन दोनों की जाति ही भिन्न है। बाह्यभाव द्वारा आत्मा की पहिचान नहीं होती; आत्मा की पहिचान आत्मभाव द्वारा होती है। आत्मोन्मुख तथा उसमें तन्मय हुए भाव द्वारा आत्मा पहिचाना जाता है, और ऐसा ज्ञानभाव ज्ञानी का चिह्न है।

अहो, ज्ञानी की पहिचान जीव को दुर्लभ है! ज्ञानभावरूप ज्ञानी को पहिचानने से राग का कर्तृत्व छूटकर सम्यग्ज्ञान होता है।

* ज्ञानी पुरुष को देह में आत्मबुद्धि नहीं होती, और आत्मा में देहबुद्धि नहीं होती, दोनों की स्पष्ट भिन्नता उसके ज्ञान में वर्तती है।
* सर्व जगत के जीव कुछ न कुछ लेकर सुख प्राप्त करना चाहते हैं; महान चक्रवर्ती भी बढ़ते वैभव-परिग्रह के संकल्प में प्रयत्नवान है और उसे प्राप्त करने में सुख मानता है... परंतु अहो! ज्ञानियों ने तो उससे विपरीत ही सुख का मार्ग निश्चित किया है कि—'किंचित् मात्र भी ग्रहण करना ही सुख का नाश है।'

—श्रीमद् राजचंद्र

दस धर्मों का स्वरूप

सम्यग्दर्शनसहित वीतरागभाव द्वारा जिनकी सच्ची आराधना हो सकती है—ऐसे उत्तमक्षमादि दस धर्मों का स्वरूप यहाँ पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से संक्षेप में दिया जा रहा है। मुनिवर इन धर्मों के मुख्य आराधक हैं और श्रावकों को भी इनका स्वरूप जानकर शक्ति-अनुसार उपासना करनी चाहिए।

❀ चाहे जिस परिस्थिति में भी चैतन्यभावना के द्वारा वीतरागी समभाव में स्थित रहना और क्रोधरूप विषमभाव नहीं होने देना, वह उत्तम क्षमाधर्म है। यह क्षमा मोक्षमार्गी संतों की सहचरी है। क्रोध की उत्पत्ति साधकभाव में बाधा उत्पन्न करनेवाली है—ऐसा समझकर उसे दूर से ही छोड़ना चाहिये और क्षमाभाव को मोक्ष का साधक जानकर उसे अंगीकार करना चाहिये।

❀ शरीर, रूप, जाति, कुल आदि की अपेक्षा मेरा ज्ञानस्वभावी आत्मा ही जगत में श्रेष्ठ है—ऐसी भावना द्वारा मद की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् मार्दव धर्म होता है।

❀ मेरे रत्नत्रय में मेरा कोई दोष न हो—ऐसी भावना द्वारा रत्नत्रय में लगे हुए किसी दोष को छिपाये बिना उसे गुरु के समीप सरल भाव से व्यक्त करके छोड़ना, सो आर्जव धर्म है।

❀ भेदज्ञान द्वारा सत्यस्वभाव को जाननेवाला जीव जिनवाणी अनुसार सत्यवचन बोले और असत्य बोलने की वृत्ति न हो, वह सत्य धर्म है।

❀ भेदज्ञान की भावना के बल से रत्नत्रय की आराधना में तत्पर और भव-तन-भोग से विरक्त, ऐसे जीव को ममत्वरूप मलिनभाव नहीं होते, तथा रत्नत्रय की शुचिता बनी रहती है, वह शौच धर्म है। (शौच=पवित्रता)

❀ चैतन्य के परम शांतरस में निमग्नता द्वारा इन्द्रियविषयों के ओर की वृत्ति या क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति न हो, स्वरूप की आराधना में सम्यक् प्रकार से उपयोग लगा रहे, वह संयम धर्म है।

❀ चाहे जैसा उपसर्ग आने पर भी अपने चैतन्य के चिन्तन से च्युत न होना तथा विषय-

कषायरूपी चोर को उपयोगरूपी घर में प्रविष्ट न होने देना, सो तप है। यह तप विषय-कषायरूपी चोर से अपने रत्नत्रयरूपी धन को बचाने के लिये महान योद्धा समान रक्षक है तथा आनंद का दाता है।

❀ स्वसंवेदन में आया हुआ शुद्ध आत्मा ही मेरा है, अन्य कुछ भी मेरा नहीं है—ऐसा शुद्धात्मा के अतिरिक्त सर्वत्र ममत्व का अभाव, सो त्याग धर्म है। श्रुत का प्रवचन, शास्त्रदान आदि भी इस त्याग धर्म के पोषक हैं।

❀ एक शुद्ध चैतन्य ही मेरा है, अन्य कुछ किंचित् मेरा नहीं है—ऐसी अकिंचनरूप चैतन्यभावना द्वारा शरीरादि समस्त परद्रव्यों के प्रति ममत्व का त्याग, सो आकिंचन्य धर्म है।

❀ ब्रह्मस्वरूप आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद में बाह्य विषयों से वृत्ति का उड़ जाना, वह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है। विशुद्ध बुद्धि के बल से ऐसी निर्विकार भावना हो जाये कि स्वर्ग की देवी ललचाये, तथापि विकार की वृत्ति न हो और माता या भगिनीवत् निर्विकार भावना बनी रहे—ऐसे जीव को उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म होता है।

इन उत्तम क्षमादि दस धर्मों की आराधना करनेवाले संतों का अत्यन्त भक्तिपूर्वक स्मरण करें... और उन्हीं जैसी आराधना के दीपक हमारे आत्मा में प्रज्वलित हों—ऐसी भावना भावें।

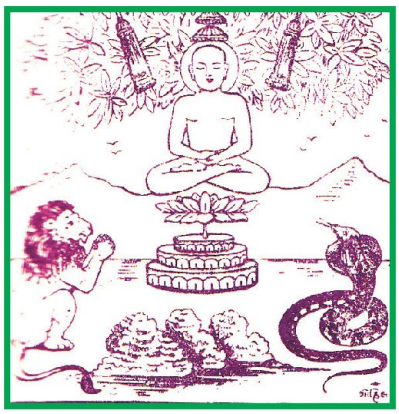

सिंह और सर्प

यह सिंह और सर्प कहते हैं कि अरे मनुष्यों! हम तिर्यंच होने पर भी इन सर्वज्ञ भगवान के मार्ग की परम भक्तिपूर्वक उपासना द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करके आत्मा का अनुभवन करते हैं, तिर्यंचपना भूलकर सिद्धसमान अनुभव कर रहे हैं... फिर तुम तो मनुष्य हो, तुम भी ऐसा अनुभव क्यों नहीं करते? हम सिंह और सर्प जगत में क्रूर प्राणी माने जाते हैं, तथापि भगवान की वाणी के प्रताप से क्रूर-रस छोड़कर परम शांत-रस को प्राप्त हुए... फिर तुम तो भगवान की भाँति मनुष्य हो... कषाय की कलुषता को छोड़कर चैतन्य के परम उपशांत-रस का अनुभव करो!

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा

वात्सल्यधर्म का महान पर्व

जिसप्रकार वैराग्य, वह धर्मप्रेमी जिज्ञासु का एक आभूषण है, उसीप्रकार धार्मिक वात्सल्य भी धर्मप्रेमी जिज्ञासु का एक मूल्यवान आभूषण है। संसार के प्रति सहज वैराग्य तथा साधर्मी के प्रति सहज वात्सल्य, यह दोनों आत्मार्थिता के पोषक हैं। मुमुक्षु को धर्म की आराधना का इतना अधिक प्रेम है कि जहाँ-जहाँ धर्म की आराधना देखता है, वहाँ-वहाँ उसका हृदय वात्सल्य से छलक उठता है कि—वाह! मैं जिस धर्म की आराधना करता हूँ, उसी धर्म की आराधना यह भी कर रहे हैं; इसलिये उन्हें धर्माराधन में किसी प्रकार का विघ्न न आये और सर्वप्रकार से धर्म की पुष्टि हो—ऐसी हार्दिक भावना उसके होती ही है। उसका नाम वात्सल्य है।

अहा, चाहे जैसी परिस्थिति में भी जहाँ साधर्मी का वात्सल्यभाव देखता है, वहाँ उस वात्सल्य की मधुरता में जीवन के दु:ख भूल जाता है और धर्म की आराधना का उत्साह जागृत होता है... पुराणों में भी वात्सल्य के अनेक ज्वलंत उदाहरण देखने को मिलते हैं। श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन महामुनि विष्णुकुमार ने सात सौ मुनियों की वात्सल्यभाव से रक्षा की थी, इसलिये यह दिन 'रक्षापर्व' के रूप में सारे भारत में मनाया जाता है... आज के दिन बहिनें अपने भाई के हाथ में राखी बाँधकर निर्दोष वात्सल्य का मधुर संदेश देती हैं।

रावण के उपवन में कई दिनों से आहार का त्याग करके बैठी हुई सीताजी जब हनुमानजी जैसे धर्मात्मा को देखती हैं, तब उनके हृदय में वात्सल्य उछलने लगता है, और वे हनुमानजी को धर्म का भाई मानकर उन्हें अपनी कहानी सुनाती हैं... और हनुमानजी गद्‌गद् होकर उसे सुनते हैं। जिसप्रकार बछड़े के प्रति वात्सल्य रखनेवाली गाय कोई बदले की आशा नहीं रखती, उसीप्रकार वात्सल्य, वह धर्मात्मा की सहज वृत्ति है, उसमें बदले की भावना नहीं होती। जब रावण सीताजी को हरकर ले जा रहा था, उस समय जटायु जैसे गिद्ध पक्षी को भी उनके प्रति ऐसा वात्सल्य जागृत होता है कि रावण की प्रचंड शक्ति की परवाह न करके वह सीताजी की रक्षा के प्रयत्न में अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। धर्मात्माओं को एक-दूसरे के प्रति जो सहज वात्सल्यभाव होता है, उसके अनेक मधुर प्रसंग आज भी देखने को मिलते हैं... और तब ऐसा लगता है कि—'वाह! ऐसा धर्मवात्सल्य सर्वत्र प्रसरित हो!'

महावीर की दिव्यध्वनि का संदेश

वीरप्रभु ने विपुलाचल पर दिव्यध्वनि द्वारा श्रावण कृष्णा एकम के दिन सर्वप्रथम उपदेश दिया... उस उपदेश द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप जानकर गौतमस्वामी आदि कितने ही जीव धर्मरूप परिणमित हुए। वीरवाणी का वह पावन-प्रवाह आज भी बह रहा है... और उसका पान करके आज भी जीव धर्मरूप होते हैं। हम सब भी उस जिनवाणी के मधुर वीतरागरस का पान करें और धर्मरूप हों। परम पूज्य स्वामीजी का श्रावण कृष्णा एकम का प्रवचन यहाँ दिया जा रहा है।

[समयसार-कलश : २१३]

भगवान महावीर को वैशाख शुक्ला दसम के दिन केवलज्ञान प्राप्त हुआ... और आज ६६ दिन बाद श्रावण कृष्णा एकम के दिन विपुलाचल पर सर्वप्रथम दिव्यध्वनि खिरी... उसे झेलकर इन्द्रभूति ब्राह्मण ने गणधरपद प्राप्त किया तथा बारह अंगरूप श्रुत की रचना की। इसप्रकार आज वीरशासन का महान मंगल-दिवस है... आज वीरशासन का नूतन वर्ष अथवा वीरशासन जयंती है। आज से २५२४ वर्ष पूर्व यह प्रसंग हुआ था; परंतु भगवान महावीर ने जो उपदेश दिया, वह आज भी चल रहा है। भगवान के कहे हुए भावों को गणधरादि दिगम्बर संत-आचार्यों ने शास्त्ररूप में गूँथा... उनमें से कुछ आज भी विद्यमान हैं।

सर्वज्ञ-परमात्मा की कही हुई वस्तुस्थिति क्या है, उसका यह वर्णन चल रहा है। जगत में स्वयंसिद्ध अनंत जीव और पुद्गल द्रव्य हैं; उनमें से कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं मिल जाता; वे एक-दूसरे में कुछ करते भी नहीं हैं। जीव जीवरूप रहकर अपना ज्ञानकार्य करता है और पुद्गल पुद्गलरूप रहकर अपने वर्णादिक का कार्य करता है। दोनों बिलकुल भिन्न रहकर अपना-अपना कार्य करते हैं; कभी अपने स्वभाव की मर्यादा छोड़कर अन्य द्रव्य के स्वभावरूप नहीं होते—ऐसा निश्चय है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने दिव्यध्वनि में ऐसा स्वरूप कहा है और वह अनुभवगोचर भी होता है।

आत्मा ज्ञेयवस्तुओं को जानता अवश्य है, परंतु ज्ञेयवस्तुओं के साथ एकमेक नहीं हो जाता। ज्ञेयों में एकमेक हुए बिना ही ज्ञान उन्हें जानता है। जानना, वह जीव का कार्य है, परंतु

पदार्थों को जानते समय उनमें कुछ गड़बड़ या न्यूनाधिकता कर दे, ऐसा ज्ञान का कार्य नहीं है। मैं तो ज्ञान हूँ—ऐसा न जानने से अज्ञानी अन्य वस्तु के साथ अपना संबंध मानता है। शरीर की क्रिया को जानते समय मैं उसका कर्ता होऊँ, ऐसा मानता है। राग को जानते समय रागरूप न हो, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। ज्ञान परज्ञेयों से बाहर रहकर उन्हें जानता है, पर में प्रविष्ट नहीं हो जाता—तन्मय नहीं हो जाता। ऐसी ज्ञान की भिन्नता का अनुभव करना, वह भगवान का उपदेश है। भिन्न ज्ञान के अनुभव में राग-द्वेष का वेदन नहीं रहा, इसलिये वीतरागी सुख का वेदन रहा।—इसप्रकार ज्ञान के अनुभव में सुख आदि अनंत गुणों का अनुभव साथ ही है।

मैं शरीरादि ज्ञेयरूप नहीं होता, मैं तो ज्ञानरूप ही रहता हूँ—इसप्रकार ज्ञानस्वरूप में दृष्टि करने से भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है। ज्ञानस्वरूप से आत्मा को देखे, उसने भगवान का उपदेश जाना है। परज्ञेय के साथ ज्ञान की एकमेकता माने, उसने महावीर भगवान के कहे हुए वस्तुस्वरूप को नहीं जाना है; इसलिये उसे धर्म नहीं होता। वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा साधे तो धर्म हो।

प्रत्येक वस्तु अपनी मर्यादा में—सीमा में रहती है; मर्यादा तोड़कर दूसरे में नहीं मिल जाती। आत्मा का एक प्रदेश भी कभी पुद्गल में मिल जाये अथवा पुद्गल का एक परमाणु भी कभी आत्मा में मिल जाये, ऐसा नहीं होता।—ऐसी भिन्नता की प्रतीति बिना ज्ञान अपने आत्मा में स्थिर नहीं होगा और उसे धर्म या सुख नहीं होगा। पर से भिन्नता जानकर ज्ञान अपने में स्थिर हो, वह धर्म तथा सुख है।

जीव का स्वभाव ज्ञान है, उस ज्ञान का कार्य ज्ञेयों को जानता है। भले ही ज्ञेयों को जाने, उसमें कोई हानि नहीं है; क्योंकि ज्ञेयों को जानने पर भी ज्ञान तो अपने स्वरूप में ही रहता है। भगवान ने ऐसा स्वभाव जाना और विपुलाचल पर दिव्यध्वनि द्वारा वह स्वभाव जगत को बतलाया। ऐसे शुद्धज्ञान की अनुभूति, सो जिनशासन की अनुभूति है।

व्यवहार-कथन में जीव को पर का कर्ता कहा जाता है, परंतु वह कहीं वस्तु का स्वरूप नहीं है। सच्चे वस्तुस्वरूप का विचार किया जाये तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता। भेदज्ञान के बिना अज्ञानी पर्याय-पर्याय में भूलता है; स्वयं अपने ज्ञान को भूला है। उसे समझाते हैं कि—भाई! ज्ञान और परज्ञेय अत्यंत भिन्न हैं; पर को जानते हुए भी ज्ञान पर में किंचित् एकमेक नहीं होता, इसलिये तू अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही देख।

ज्ञान और उसके साथ आनंदादि अनंत गुण—ऐसे स्वतत्त्व को तू देख तो उसमें राग की या जड़ की जरा भी एकमेकता तुझे दिखायी नहीं देगी; तथा राग में या जड़ में ज्ञान का अंश भी नहीं दिखेगा। इसप्रकार स्वभाव तथा परभाव की अत्यन्त भिन्नतारूप भेदज्ञान जिनवाणी ने कराया है। महावीर भगवान ने आज के दिन विपुलाचल पर ऐसा उपदेश दिया था... और उसे समझकर अनेक जीव धर्म को प्राप्त हुए थे।

बाह्य पदार्थ—शरीर-मन-वाणी, पाप-पुण्य से पृथक् ऐसा ज्ञान, वह आत्मा का स्वभाव है और उस ज्ञानस्वभाव द्वारा समस्त ज्ञेयों को जानने का आत्मा में सामर्थ्य है। परज्ञेय को जानने पर भी आत्मा में अशुद्धता या उपाधि नहीं आ जाती, क्योंकि पर को जानने पर भी आत्मा पर में मिल नहीं जाता। भगवान की वाणी ने ऐसी भिन्नता बतलायी है। ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट होने पर भी जीव क्यों भ्रम करते हैं ? भ्रम से स्व-पर की एकमेकता होना क्यों मानते हैं ? जहाँ व्यवहार से एक-दूसरे में उपचार करके कहा, वहाँ अज्ञानी सचमुच ही स्व-पर को एक मान बैठा !... भाई, व्यवहार तो एक को दूसरे में मिलाकर, एक के भाव को दूसरे का कहता है, परंतु वस्तुस्वभाव ऐसा नहीं है। स्व-पर का कोई अंश एक-दूसरे में नहीं मिलता। स्व के भावों को स्व, तथा पर के भावों को पर—इसप्रकार स्व-पर को अत्यंत भिन्न जानने-मानने से परिणति स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान होता है। भगवान महावीर ने ऐसे वीतराग विज्ञान का उपदेश जगत को दिया... महावीर भगवान ने क्या कहा ?—कि स्व-पर की भिन्नता बतलाकर वीतराग विज्ञान करने को कहा।—यही भगवान की दिव्यध्वनि का संदेश है।

'जय महावीर !'

विविध वचनामृत

[लेखांक : २२]

(२६९) हे जीव! सत्संग के उत्तम योग में तू ऐसा काम कर कि जिससे अपने ज्ञानधाम में तेरा निवास हो, तुझे आनंद हो और दुःख सदा दूर रहे।—ऐसी धर्म साधना करने का यह अवसर है।

(२७०) जिसप्रकार पानी में डूबता हुआ मनुष्य अपनी घबराहट में सारे जगत को भूल जाता है; उसीप्रकार जो चैतन्यसागर की गहराई में उतरकर उसके ध्यान में मग्न हुआ वह जीव अपने अतीन्द्रिय आनंद के समक्ष जगत को भूल जाता है।

(२७१) शब्दों के शृंगार या विकल्पों के हार में आत्म-महिमा को प्रसिद्ध करने की शक्ति नहीं है। अनुभवगम्य ऐसा जो आत्मतत्त्व, वह शब्दों में या विकल्पों में कहाँ से आयेगा?

(२७२) जगत में जितने पवित्र परिणाम हैं, वे सब आत्मा के ही आश्रय में हैं, अन्यत्र कहीं नहीं।

(२७३) सम्यक्त्व की कोई अकथ्य एवं अपूर्व महिमा जानकर उस पवित्र कल्याणमूर्तिरूप सम्यग्दर्शन को इस अनंत दुःखरूप ऐसे अनादि संसार की आत्यंतिक निवृत्ति हेतु हे भव्यो! तुम भक्तिपूर्वक अंगीकार करो, प्रति समय आराधो; ज्ञान, चारित्र और तप इन गुणों को उज्ज्वल करने वाली ऐसी यह सम्यक्श्रद्धा प्रथम आराधना है। (आत्मानुशासन)

(२७४) हे श्रावक! यदि यह भवदुःख तुझे प्रिय न लगते हों और स्वभाव का अनुभव तू चाहता हो तो अपने ध्येय की दिशा बदल दे; जगत से उदास होकर अंतर में चैतन्य को ध्याने से तुझे परम आनंद प्रगट होगा और भव की बेल क्षणमात्र में टूट जायेगी। आनंदकारी परम आराध्यदेव तुझमें ही विराजमान हैं।

(२७५) तेरा मोक्ष तेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणाम से है, अन्य किसी द्वारा तेरा मोक्ष नहीं है।

(२७६) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह स्वोन्मुख परिणाम है।

(२७७) स्ववस्तु के मूल्य को भूलकर जो जीव पर का मूल्यांकन अधिक करता है, उसके परिणाम परोन्मुख ही रहते हैं और परोन्मुख परिणाम ही संसार है।

(२७८) स्व का उत्कृष्ट मूल्य (महिमा) भासित हो तो परिणाम स्वसन्मुख हो; और स्वसन्मुख परिणाम, वह मोक्ष का मार्ग है।

पर्यूषण पर्व

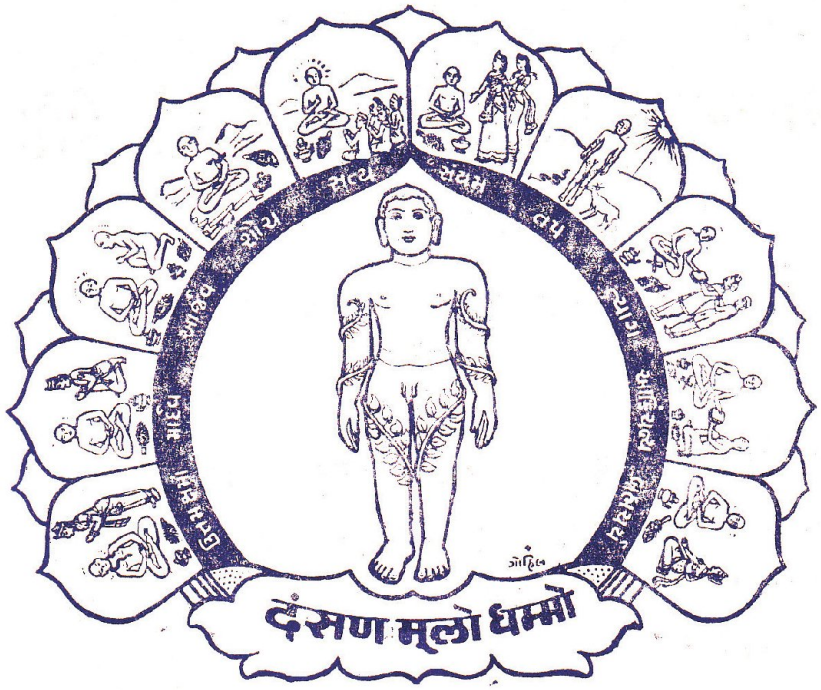

दशलक्षण धर्म

आत्मा के धर्म की परि-उपासना अर्थात् रत्नत्रयधर्म की उत्कृष्ट उपासना करना, उसका नाम पर्यूषण-पर्व है। उपासना या आराधना निजात्मा के ही आश्रित है; इसलिये किसी अमुक काल में या विशेष दिनों में ही आराधना होती है और फिर नहीं होती—ऐसा नहीं है। जब और जहाँ जो जीव स्वद्रव्य का जितना आश्रय करता है, तब और वहाँ उस जीव को उतनी ही धर्म की उपासना होती है। अब अपने जिनशासन में जो विशिष्ट पर्व के दिन हैं, वे इस हेतु से रखे गये हैं कि—ऐसे रत्नत्रय की उपासना के लिये विशेष जागृति, विशेष प्रेरणा एवं भावना स्फुरित हो। अपने पवित्र पर्वों में निहित धर्म की आराधना का यह उद्देश हमें भूलना नहीं चाहिये... जीवन में धर्म की आराधना कैसे हो, उसकी पुष्टि एवं वृद्धि कैसे हो, उसके लिये निरंतर जागृत तथा उद्यमशील रहना चाहिये। जो जीव धर्म की आराधनारूप परिणमित हुए हैं, उनके आत्मा में तो सदैव धर्म का पर्व है, उनके सदा पर्यूषण है। ऐसे धर्मात्मा के दर्शन एवं सत्संग जिज्ञासुओं को धर्माराधन की मंगल-प्रेरणा प्रदान करते हैं।

पर्यूषण पर्व के दिन निकट आ गये हैं... उससे पूर्व ही आत्मा को आराधना द्वारा तैयार करके ऐसा पर्यूषणामय कर दें कि भाद्रपद मास बीत जाने पर भी आत्मा में 'पर्यूषणा' बनी ही रहे; आत्मा में सदा धर्म की उपासना-आराधना वर्तती रहे।●●

राग-द्वेष का क्षय करने की रीति

शुद्ध चैतन्य का अनुभव

[समयसार-कलश : २१८ से २२०]

आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई! जिसप्रकार ज्ञान तेरा स्वभाव है, उसीप्रकार राग-द्वेष कहीं तेरा स्वभाव नहीं है; इसलिये वस्तुस्वभाव के अनुभव द्वारा उस राग-द्वेष को मिटाना सुगम है; उसमें कोई कठिनाई नहीं है।

राग-द्वेष जीव का मूल स्वरूप नहीं है; जीव का मूल स्वरूप तो ज्ञान है। ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा राग-द्वेष का क्षय हो जाता है। राग या द्वेष, अशुभ या शुभ, वह अशुद्धभावपरिणति है; अज्ञान के कारण जीव अपने को वैसे अशुद्धस्वरूप ही अनुभव करता है; ज्ञानी तो राग-द्वेष से भिन्न शुद्धचैतन्य की पहिचान द्वारा शुद्ध अनुभवशील हुए हैं, इसलिये अपने को शुद्धस्वरूप ही अनुभव करते हुए रागादि अशुद्धभाव का क्षय करते हैं। शुद्धता के अनुभव बिना राग-द्वेष का क्षय कभी हो ही नहीं सकता; इसलिये कहते हैं कि—शुद्धचैतन्य के अनुभवशील ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव, तत्त्वदृष्टि अर्थात् शुद्ध जीवस्वरूप के अनुभव द्वारा राग-द्वेष को मूल में से मिटाकर दूर करो!

यहाँ तो 'सम्यग्दृष्टि' का अर्थ ही 'शुद्धचैतन्य-अनुभवशील'—ऐसा किया है; शुद्धचैतन्य के अनुभव को ही तत्त्वदृष्टि कही है और ऐसे अनुभववाले जीवों को ही सम्यग्दृष्टि कहा है। ऐसे अनुभवरूप शुद्धतत्त्वदृष्टि के बिना राग-द्वेष कभी नहीं छूटते। राग-द्वेष से भिन्नता के अनुभव बिना राग-द्वेष कैसे दूर होंगे? जो राग द्वारा मोक्ष होना मानता है, उसको तो मोक्ष भी रागयुक्त सिद्ध हुआ।

जीव का सहज स्वरूप राग-द्वेषवाला नहीं है; जीव का सहज स्वरूप तो ज्ञान-आनंदरूप है। ऐसे सहजस्वरूप के अनुभव द्वारा मुक्तिपद की प्राप्ति होती है और राग-द्वेषादि विभावपरिणति मिट जाती है।

कोई कहे कि 'राग-द्वेष छोड़ो...' परन्तु राग-द्वेषरहित शुद्ध आत्मा कैसा है, उसके अनुभव बिना राग-द्वेष छूटते ही नहीं; शुद्धपरिणति हुए बिना विभावपरिणति नहीं छूटती; इसलिये राग-द्वेष का मूल तो अज्ञान है और शुद्ध आत्मा के ज्ञान द्वारा ही वह निर्मूल होता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव क्या और रागादि परभाव क्या,—उसे जाने बिना अज्ञानपूर्वक कदाचित् राग-द्वेष की थोड़ी मन्दता करे या अशुभ को घटाकर शुभ करे, परन्तु उससे कहीं आत्मा को धर्मलाभ नहीं होता। सर्वथा रागरहित ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में ले, तब रागरहित सहजज्ञानपरिणति प्रगट होती है, वह धर्म और मोक्षमार्ग है। सर्वथा रागरहित जो मोक्षदशा, उसका साधन भी रागरहित ही होता है; राग उसका साधान नहीं हो सकता।

जीव का स्वरूप तो निर्दोष ज्ञान है; राग-द्वेष, वह अपराध है। ज्ञान के अनुभव द्वारा उस राग-द्वेष को मिटाने का उपदेश है और स्वानुभव के अभ्यास द्वारा ऐसा होना सुगम है, कोई कठिन नहीं है। अंतर्मुख अभ्यास द्वारा अशुद्धपरिणति मिटती है और शुद्धपरिणति होती है।

देखो, यहाँ तो कहते हैं कि—आत्मा के अनुभव द्वारा राग-द्वेष को टालना सुगम है और आत्मा के ज्ञान बिना उन्हें दूर करना असंभव है; यानी जहाँ भेदज्ञान हुआ और शुद्धस्वरूप से राग को भिन्न जाना, वहाँ उस राग को दूर करना सुगम है। जो राग को ज्ञान के साथ एकमेक अनुभव करता है, वह राग का अभाव नहीं कर सकता; परंतु जहाँ भिन्नता जानकर ज्ञान राग से भिन्न परिणमित होने लगा, वहाँ उस परिणमन में राग का अभाव ही वर्तता है।

वस्तु के स्वभाव से विचार करें तो राग-द्वेष कोई भिन्न सत्तावाली स्वतंत्र वस्तु नहीं है। जिसप्रकार जीव ज्ञानस्वरूप स्वतंत्र वस्तु है, उसका कभी अभाव नहीं होता; उसीप्रकार राग-द्वेष कहीं कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है कि उसका अभाव न हो सके। राग-द्वेष तो जीव की ही अशुद्धपरिणति थी; जीव जहाँ शुद्धपरिणतिरूप हुआ, वहाँ वह अशुद्धपरिणति मिट गई अर्थात् राग-द्वेष सर्वथा मिट गये। इसप्रकार वस्तुस्वरूप का अनुभवन करके राग-द्वेष को टालना सुगम है। ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो स्वभावरूप है, परंतु राग का अभाव हो सकता है, क्योंकि वह स्वभावरूप नहीं है।

रागादि तो अपने स्वरूप की वस्तु नहीं है, ज्ञान और आनंद तो अपना स्वरूप ही है। इसलिये उस ज्ञान-आनंदरूप परिणमित होना, वह निज घर की वस्तु होने से सुगम है; वह कहीं बाहर से लेने नहीं जाना पड़ती।

रागादि निजस्वरूप नहीं है, तो क्या उन रागादि की उत्पत्ति दूसरा कोई कराता होगा ?—कहते हैं—कि नहीं; कोई द्रव्य जीव को जबरन रागादिरूप परिणमित नहीं कर सकता; जगत के समस्त द्रव्य अपनी-अपनी अखंड परिणामधारा में परिणमित हो रहे हैं; इसलिये तत्त्वदृष्टि से अर्थात् सच्ची दृष्टि से वस्तुस्वरूप का विचार करने पर जीव को रागादि अशुद्धतारूप कोई अन्य द्रव्य तो परिणमित नहीं करता। कर्म तो जीव को रागादिरूप परिणमित नहीं करता, परंतु जीव स्वयं ही शुद्धस्वरूप से भ्रष्ट होकर पर्याय में रागादि अशुद्धभावरूप परिणमित होता है, वह जीव का ही अपराध है; किसी अन्य द्रव्य का दोष नहीं।

भाई, अपनी अशुद्ध परिणति तूने ही खड़ी की है, और तू ही उसे मिटाकर शुद्ध परिणति करने में समर्थ है। तेरी अशुद्धता में दूसरे का क्या दोष ? स्वयं अशुद्धता खड़ी करके दूसरे का दोष निकाले तो वह अशुद्धता को कब दूर करेगा ? अपनी पर्याय के अपराध से अशुद्धता हुई है, ऐसा समझे और शुद्धस्वरूप उस अशुद्धता से रहित है, ऐसा अनुभव करे, तो शुद्ध अनुभव द्वारा अशुद्धता को मिटा दे—ऐसी वस्तुस्थिति है। पर का दोष निकालेगा, वह राग-द्वेष को नहीं मिटा सकेगा, परंतु मिथ्याबुद्धि से राग-द्वेष ही करता रहेगा। राग-द्वेषरहित स्वरूप की तो उसे खबर नहीं है।

जीव के स्वरूप में राग-द्वेष नहीं हैं, परद्रव्य राग-द्वेष नहीं कराता, इसलिये राग-द्वेष की कोई स्थायी भूमिका नहीं रही। पर्याय में क्षणिक थे, वे शुद्धस्वरूप का अनुभव होने से दूर हो गये। इसलिये कहते हैं कि—हे भाई ! ऐसे भेदज्ञान से शुद्धस्वरूप के अनुभव द्वारा राग-द्वेष को सुगमता से मिटाया जा सकता है। राग-द्वेष की कोई ऐसी स्वतंत्र सत्ता नहीं है कि वे मिट न सकें।

राग-द्वेष यदि जीव का स्वरूप ही हों तो वे मिट नहीं सकते; परंतु ऐसा तो नहीं है।

और यदि राग-द्वेष परद्रव्य कराता हो तो भी नहीं मिट सकते; परंतु ऐसा भी नहीं है। यदि परद्रव्य राग-द्वेष कराता हो, तब तो सदा राग-द्वेष होते ही रहें, उन्हें मिटाने का अवसर ही न आये।

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे, जगत के जीव भ्रम से परद्रव्य को राग-द्वेष का कारण मानते हैं; परंतु तत्त्वदृष्टि से देखने पर परद्रव्य हमें तो किंचित् राग-द्वेष का उत्पादक दिखायी नहीं देता। अशुद्धपरिणति से जीव ही राग-द्वेष करता था; जहाँ शुद्धअनुभवरूप परिणमित

हुआ, वहाँ राग-द्वेष नहीं रहे, स्वयं रागरहित सहज ज्ञानस्वरूप से ही परिणमित होने लगा।—ऐसा स्पष्ट वस्तुस्वरूप है, उसे तत्त्वदृष्टि से देखो। ऐसी तत्त्वदृष्टि द्वारा ही राग-द्वेष का क्षय होगा।

परद्रव्य मुझे राग-द्वेष कराते हैं और मैं परद्रव्य की पर्याय को करता हूँ, ऐसी स्व-पर की एकताबुद्धिरूप जो अज्ञान है, वही राग-द्वेष का मूल है। तत्त्वदृष्टि द्वारा स्व-पर की भिन्नता का अनुभव करने से राग-द्वेष दूर होते हैं। प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्नरूप से अपने-अपने स्वरूप में अखंड धारारूप अपने परिणाम में वर्तता है और इसप्रकार वस्तु सधती है।

स्व-पर की भिन्नता जानकर अंतर में जा, तो तुझे सुख का अनुभव होगा; परंतु जिसने स्व-पर की भिन्नता को नहीं जाना, अपनी भूल का भान जिसे नहीं हुआ, वह भूल को टालकर अंतर्मुख किसप्रकार होगा? जीवद्रव्य अपने अपराध से राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धचेतनारूप परिणमित है, उसमें पुद्गल कर्म का तो कोई दोष है नहीं; यदि जीवद्रव्य स्वयं शुद्धचेतनारूप परिणमित हो और राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित न हो, तो पुद्गल उसका क्या कर सकता है? पुद्गल कहीं जीव को जबरन रागादि नहीं कराता। ऐसी भिन्न वस्तुस्थिति जानने पर अज्ञान का अस्त एवं भेदज्ञान का उदय होता है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि विदित हो... प्रगट हो... जगत में प्रसिद्ध हो कि जीवद्रव्य स्वयं स्वतंत्ररूप से ही अशुद्धतारूप या शुद्धतारूप परिणमित होता है, उसमें पुद्गलद्रव्य का किंचित् भी कर्तव्य नहीं है।

भाई, तू जान कि मैं तो बोधस्वरूप हूँ; ज्ञानस्वरूप ही हूँ... इसप्रकार अपने को शुद्धरूप अनुभवने से रागादि अशुद्धतारूप परिणमन नहीं होता, रागरहित शुद्धतारूप परिणमन होता है। इसप्रकार शुद्ध चैतन्य का अनुभव ही राग-द्वेष के क्षय का उपाय है। अनंत जीव ऐसे अनुभव द्वारा राग-द्वेष का क्षय करके सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं।

राग-द्वेष तो जीव का अपना अपराध है—इतना ही बतलाकर नहीं रुक जाना है परंतु आगे ले जाकर यह बतलाना है कि जो रागादि दोष हैं, वह जीव का सच्चा स्वरूप नहीं है; जीव का शुद्धस्वरूप तो ज्ञान-आनंदमय है।—ऐसे शुद्धस्वरूप के अनुभव द्वारा शुद्धपरिणति प्रगट हो और राग-द्वेषरूप अशुद्धपरिणति मिटे, वह प्रयोजन है।

शुद्धस्वरूप के अनुभव द्वारा ही राग-द्वेष-अज्ञान का नाश होता है, इसलिये हे भव्य जीवो! तुम ऐसा अनुभव करो! ●●

तत्त्वचर्चा

[लेखांक : १३]

तत्त्वरसिक जिज्ञासुओं को प्रिय 'दस प्रश्न और उनके उत्तर' का यह विभाग पूज्य स्वामीजी के समक्ष हुई तत्त्वचर्चा से तथा शास्त्रों पर से तैयार किया जाता है।

—सम्पादक

(१२१) **प्रश्नः**—आत्मा को जानने का तात्कालिक फल क्या ?

उत्तरः—उसी समय आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है।

(१२२) **प्रश्नः**—सच्चा ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तरः—ज्ञानस्वरूप आत्मा को ज्ञेय बनाये, वही सच्चा ज्ञान है।

(१२३) **प्रश्नः**—एक जीव की साधक पर्यायें कितनी और सिद्ध पर्यायें कितनी ?

उत्तरः—एक जीव की साधक पर्यायें असंख्य होती हैं, सिद्ध पर्यायें अनंत होती है। (साधक पर्यायें सादि-सांत हैं; सिद्ध पर्यायें सादि-अनंत हैं।)

(१२४) **प्रश्नः**—साधक जीव कितने हैं ? सिद्ध जीव कितने हैं ?

उत्तरः—साधक जीव जगत में एक साथ असंख्यात होते हैं और सिद्ध जीव अनंत हैं।

(१२५) **प्रश्नः**—मोक्ष को साधने के लिये वीर्य कब उल्लसित होता है ?

उत्तरः—स्वभावोन्मुख हो, तब वीरता प्रगट होती है और वीर्य मोक्ष को साधने के लिये उल्लसित होता है।

(१२६) **प्रश्नः**—आत्मा का अनुभव करनेवाला क्या छोड़ता है ?

उत्तरः—आत्मा का अनुभव करनेवाला परभावों को छोड़ता है और निज स्वभाव को ग्रहण करता है।

(१२७) **प्रश्नः**—धन्य कौन हैं ?

उत्तर:—सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को जिन्होंने जाना है, ऐसे ज्ञानी भगवंत धन्य हैं !

(१२८) **प्रश्न:**—केवली भगवान के गुणों की स्तुति किसप्रकार होती है ?

उत्तर:—आत्मा के ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता द्वारा मोह को जीतने से केवली भगवान की सच्ची स्तुति होती है।

(१२९) **प्रश्न:**—सम्यग्दृष्टि कहाँ निवास करता है ?

उत्तर:—निज-गृह ऐसा जो अपना शुद्ध आत्मा, उसी में वास्तव में धर्मी का निवास है; वे राग में या पर में अपना निवास नहीं मानते।

(१३०) **प्रश्न:**—गृहस्थाश्रम में आत्मा का अनुभव और ध्यान होता हैं ?

उत्तर:—हाँ, धर्मात्मा को गृहस्थदशा में भी आत्मा का अनुभव और ध्यान होता है; उसके बिना सम्यग्दर्शन संभव ही नहीं।

विश्व के पदार्थों का सच्चा स्वरूप देखना हो तो प्रथम अपनी दृष्टि को निर्मल बनाओ।

यथार्थता, स्वतंत्रता और वीतरागता ही ग्रहण करने योग्य है—ऐसी श्रद्धा को नित्य स्वतत्त्व के लक्ष्य से दृढ़-नि:शंक बनाओ।

विश्व के पदार्थों की अवस्था का स्वामी (-कर्ता) उन पदार्थों से पृथक् देखने की चेष्टा न करो, क्योंकि यह चेष्टा दृष्टि-विष की जननी है।

विश्व के सब पदार्थ अपने-अपने सुनिश्चित कार्य में निरंतर निरत हैं, उनकी स्थिति को पलटने की चेष्टा मत करो; उनकी स्थिति को अनुकूल-प्रतिकूल या इष्ट-अनिष्ट मानने की दृष्टि दु:खदाता होने से नित्य-ज्ञाता स्वभाव के आश्रय द्वारा उस दृष्टि को पलट दो। बस, दृष्टि का विष उतर जायेगा। सच्चा समाधान समता का नित्य प्रकाश करेगा।

स्व-पर की भिन्नता के ज्ञान में निराकुलता और शांति

हे जीव! तेरे उपशमादि परिणाम तेरे स्वद्रव्य के आश्रय से ही होते हैं, वे परिणाम तेरे ही हैं, किसी दूसरे के नहीं हैं और दूसरे के आश्रय से नहीं होते। तेरा सम्यग्दर्शन तेरे द्रव्य के आश्रित हैं, किसी अन्य के आश्रित नहीं हैं... और राग-द्वेषपरिणाम भी तेरे अपने ही किये हुए हैं, किसी दूसरे ने नहीं कराये हैं।

अहा, ऐसी स्वाधीन वस्तुव्यवस्था... किसी वस्तु का अन्य वस्तु में किंचित् प्रवेश ही जहाँ नहीं है, बाहर की बाहर ही रहती है, वहाँ एक वस्तु दूसरी को क्या करेगी?

प्रत्येक वस्तु में अनंत शक्तियाँ प्रकाशमान हैं, परंतु वस्तु की वे शक्तियाँ उसी वस्तु में रहती हैं, अन्य वस्तु में बिल्कुल नहीं जातीं। चैतन्य के सम्यग्दर्शनादि परिणाम हों, वे चैतन्य में ही रहते हैं, बाहर नहीं जाते। उसीप्रकार रागादि परिणाम हों, वे भी अपने में ही रहते हैं, वे कहीं पर में नहीं जाते और न पर का कुछ सुधारते-बिगाड़ते हैं। पुद्गल-कर्म आदि के परिणाम पुद्गल में ही रहते हैं, वे जीव में किंचित् भी प्रवेश नहीं करते; तो फिर वे जीव का क्या करेंगे? कर्म जीव के बाहर ही रहते हैं, जीव के परिणाम में वे कुछ भी नहीं करते।

जीव न तो कर्मों में कुछ करता है, और न कर्म जीव में कुछ करता है।

कर्म जीव में प्रविष्ट नहीं होते, और जीव के परिणाम कर्म में प्रवेश नहीं करते।

जीव के समस्त परिणाम सदा जीव के आश्रय से ही होते हैं, क्योंकि परिणाम अपने परिणामी के आश्रय से ही होते हैं। अरे, एक परिणाम दूसरे परिणाम के आश्रय से भी नहीं है, तो फिर पर के आश्रय से हो, यह तो बात ही कहाँ रही? इसलिये भाई! दृष्टि डाल अपने द्रव्य पर! अपने द्रव्य पर दृष्टि डालने से आत्मा स्वयं ही निर्मल परिणामरूप परिणमित हो जायेगा।

वस्तु प्रतिक्षण परिणमित तो होती ही रहती है; परिणाम के बिना एक क्षण भी नहीं रहती। स्वद्रव्य के ऊपर दृष्टि डालकर परिणमित होनेवाला आत्मा सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणामरूप से परिणमित होता है और स्वद्रव्य को भूलकर पराधीन दृष्टि से परिणमित होनेवाला आत्मा अज्ञानभावरूप परिणमित होता है। उन सम्यग्दर्शनादि परिणामों का अथवा

अज्ञानपरिणामों का कर्ता वह जीव स्वयं ही है, अन्य कोई कर्ता नहीं है। ऐसी स्पष्ट वस्तुस्थिति जगत में सर्व द्रव्यों में प्रकाशित है; तथापि मोही जीव स्वभाव से चलित होकर आकुलता और क्लेश पाते हैं।

आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे मोही जीवों! व्यर्थ क्लेश क्यों पाते हो? स्वद्रव्य और परद्रव्य अत्यंत भिन्न-भिन्नरूप से प्रकाशित हो रहे हैं, किसी का दूसरे में किंचित् प्रवेश ही नहीं है; तो फिर परज्ञेयों के साथ तुम्हारा परमार्थ से कुछ भी संबंध नहीं है। इसलिये ऐसी वस्तुस्थिति समझकर तुम अपने स्वज्ञेय में ही क्यों नहीं रहते? अन्य वस्तुएँ तुम से बाहर ही रहती हैं तो वे तुम में क्या करेंगी? यह चेतन अन्य वस्तु से बाहर ही रहता है तो अन्य वस्तु में यह चेतन क्या करेगा? ऐसी अत्यंत भिन्नता जानकर ज्ञायकस्वभावरूप स्वज्ञेय का आश्रय करना ही कर्तव्य है।

स्व-पर की भिन्नता को जानकर हे जीव! तू शांत हो, धैर्य धारण कर, और अपने स्वद्रव्य की साधना में ही तत्पर हो! स्वद्रव्य की साधना में तत्पर जीव पर से अत्यंत भिन्नता को जानता हुआ अनुकूलता के ढेर में खो नहीं जाता और प्रतिकूलताओं में व्याकुल नहीं होता। अनुकूलता के ढेर हों या प्रतिकूलता के पहाड़... उनसे अपने को सर्वथा भिन्न जानता हुआ शुद्धज्ञानरूप ही अपना अनुभव करता है।

अहो, तेरा सर्वस्व तुझ में है, पर में तेरा कुछ नहीं है;

पर का सर्वस्व पर में है, तुझ में पर का कुछ नहीं है।

कितनी शांति! स्वयं अपने में रहा, वहाँ क्लेश कैसा? स्व-पर की अत्यंत भिन्नता के भान में मोह का अभाव है; मोह नहीं, वहाँ क्लेश भी नहीं है, परम निराकुलता और शांति है।

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक ४०] [अंक २७९ के आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य स्वामीजी के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

[गाथा : ७२ चालू]

इस शरीर से भिन्न मैं कौन हूँ? अनादि काल से इस भव-अटवी में परिभ्रमण क्यों हो रहा है? आत्मा को शांति क्यों नहीं मिलती?—ऐसी जिसे जिज्ञासा जागृत हुई हो, उस जीव को आचार्यदेव, शांति का उपाय बतलाते हैं। आत्मा, शरीर से भिन्न होने पर भी शरीर को ही अपना मानता है, वह भ्रांति है और उस भ्रांति के कारण ही अनादि काल से अशरणरूप से भव-अटवी में परिभ्रमण कर रहा है। लक्ष्मी के ढेर या स्त्री आदि कुटुम्बीजन, वे कोई जीव को क्षणमात्र भी शरणभूत नहीं हैं, परंतु मूढ़ जीव उन्हें शरणरूप मानकर उनमें सुख मानता है।

देखो, मृत्यु की अंतिम घड़ी आ गई हो, भीतर घबराहट से दुःखी हो रहा हो, बाहर लक्ष्मी के ढेर पड़े हों और स्त्री-पुत्रादि टुकुर-टुकुर देखते खड़े हों; वहाँ ऐसी प्रार्थना करे कि हे लक्ष्मी के ढेरो! हे स्त्री-पुत्रो! तुम मुझे शरण दो... तो क्या वे कोई जीव को शरणभूत होंगे? क्या वे दुःख मिटा देंगे?—नहीं; क्योंकि जब यह शरीर भी जीव को शरणभूत नहीं है, तो फिर प्रत्यक्ष भिन्न ऐसे स्त्री-पुत्र-मकान-संपत्ति आदि संयोग कैसे शरणभूत होंगे? भाई, तुझे शरणरूप तो अपना आत्मा है। अशरीरी-अरूपी चैतन्यमूर्ति आत्मा ही तेरा स्व है, वही तेरी सच्ची लक्ष्मी है, इसके अतिरिक्त जगत में अन्य कोई तुझे शरणरूप नहीं है। अज्ञानी, भ्रम से मंद कषाय को शांति मान लेता है, परंतु उसमें कोई सच्ची शांति या आनंद नहीं है। मैं जितना अपने स्वरूप में अंतर्मुख रहूँ, उतनी मुझे शांति है और बाह्य में वृत्ति जाये, उतनी आकुलता है। ऐसा निर्णय तो ज्ञानी ने किया है, और तदुपरांत वे बाह्य संसर्ग छोड़कर चैतन्यस्वरूप में विशेषरूप से एकाग्र होने की भावना भाते हैं। लोकसंसर्ग से मन चंचल होता है, इसलिये चैतन्य में स्थिर होने के लिये लौकिकसंसर्ग का परित्याग करना चाहिये—ऐसा उपदेश है। चैतन्यस्वरूप की

ओर उन्मुख होने से बाह्य संसर्ग की ओर झुकाव ही नहीं होता; इसलिये कहते हैं कि हे योगी! आत्मा के आनंद में एकाग्र होने के लिये तू बाह्य संसर्ग को छोड़ और चैतन्यस्वभाव में ही निवास कर।

जो असंग होकर, विकल्प का भी जिसमें संसर्ग नहीं है—ऐसे अन्तरतत्त्व को साधना चाहता है, उसे बाह्य संग बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। लौकिक प्रसंगों के ही परिचय में लगा रहे, उसका परिणाम असंगस्वभाव की ओर कैसे जायेगा? कहीं परवस्तु किसी के परिणामों को नहीं बिगाड़ती परंतु परसंग का प्रेम अंतर की एकाग्रता को रोकता है; इसलिये ऐसा उपदेश है कि मुमुक्षु को लौकिकजनों के परिचय में बहुत नहीं आना चाहिये। श्रीमद् राजचंद्रजी भी कहते हैं कि लोकसंज्ञा द्वारा लोकाग्र में नहीं पहुँचा जाता; अर्थात् लोक-परिचय के परिणाम बने रहें और आत्मा का मोक्ष भी सधे—ऐसा नहीं होता। भले ही, निमित्त परिणाम को नहीं बिगाड़ता, परंतु तेरी वृत्ति शुद्ध आत्मा से हटकर निमित्त के संग की ओर क्यों गई? उपदेश में तो निमित्त से कथन आता है कि तू परसंग छोड़; जहाँ कोलाहल मचा हो और विषय-कषाय की बातें होती हों—ऐसे प्रसंग का संग तू छोड़, अर्थात् चैतन्य में अपना चित्त लगा; बाह्य संग से लक्ष हटाकर एकांत में अंदर उतरकर आत्मा का ध्यान कर। मुमुक्षु को एकांत में रहकर आत्मा की साधना करनी चाहिये। आत्मा की साधना का समावेश अंतर में होता है; वह कोई दूसरों को दिखलाने की चीज़ नहीं है। अंतर के सूक्ष्म संकल्प-विकल्प भी स्वरूप की स्थिरता में बाधक हैं; तो फिर बाह्य संग की ओर लक्ष जाये, वह तो बाधक है ही। इस कारण बाह्य लक्षवाले को मिथ्यात्व है ऐसा नहीं है; परंतु बाह्य का लक्ष अंतर में स्थिरता नहीं होने देता.... और अंतिम ध्येयरूप जो मोक्ष, उसे वह रोकता है। इसलिये हे भव्य! आत्मा को साधने के लिये तू बाह्य लक्ष छोड़कर असंगरूप से अंतर की गुफा में जा... और उसका ध्यान कर॥७२॥

बाह्य संसर्ग से चित्त क्षुब्ध होता है; इसलिये बाह्य लौकिकजनों का संसर्ग छोड़ने योग्य है—ऐसा कहा। वहाँ कोई बहिरात्मा ऐसा समझे कि—'यह सब छोड़कर जंगल में अकेला जाकर रहना चाहिये, एकांत वन में जाने से आत्मा में एकाग्रता होगी; गाँव में मुझे धर्म नहीं होगा और जंगल में होगा'—इसप्रकार बाह्य संयोग-वियोग पर जिसकी दृष्टि है, वह अनात्मदर्शी है, वह आत्मा को नहीं देखता परंतु संयोग को ही देखता है। आत्मा को देखनेवाला ज्ञानी तो पर से भिन्न निजात्मा में निश्चलरूप से रहता है—यह बात अगले श्लोक में कहते हैं—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

जो अनात्मदर्शी है, आत्मा का दर्शन और अनुभवन जिसे नहीं हुआ है, वही 'यह ग्राम और यह जंगल'—ऐसे दो प्रकार के निवासस्थान की कल्पना करता है, इसलिये वह बाह्य में अपना निवास मानता है; परंतु जिसने आत्मस्वरूप का अनुभव किया है—ऐसा आत्मदर्शी अंतरात्मा तो पर से भिन्न रागादि रहित शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को ही अपना निश्चल निवासस्थान मानता है और बाह्य संसर्ग छोड़कर वह अंतरस्वरूप में वास करता है... उसमें एकाग्र होकर रहता है। अज्ञानी की बाह्यदृष्टि है, इसलिये जहाँ लोक-संसर्ग छोड़ने का कथन आये, वहाँ उसकी दृष्टि वन की ओर जाती है, मानों वन में उसकी शांति हो! भाई, वन में भी तेरी शांति नहीं है; शांति तो आत्मा में है, इसलिये आत्मा की गहराई में उतर तो तुझे शांति हो। जंगल की गुफा में तो सिंह-बाघ और सर्प भी रहते हैं, इसलिये तू अंतर की—चैतन्य की गिरिगुफा में जाकर ध्यान कर तो तुझे आनंद का अनुभव होगा। अहो! मुनिवर चैतन्यगुफा में उतरकर ध्यान करते हों, तब ऐसे आनंद में लीन होते हैं मानों साक्षात् सिद्ध भगवान!... परंतु अज्ञानी की दृष्टि ऐसे अंतरस्वरूप को भूलकर बाह्य में—जंगल में जाती है। लोकसंसर्ग छोड़ने की बात आये, वहाँ ज्ञानी की वृत्ति अंतरस्वरूप में जाती है कि—मैं जगत से भिन्न हूँ और जगत भी मुझसे भिन्न है... मेरे स्वरूप में जगत का प्रवेश नहीं है और जगत में मेरा निवास नहीं है, मेरा चिदानंदस्वरूप ही मेरा निवासस्थान है; इसके अतिरिक्त बाह्य जंगल या महल, वह कोई मेरा निवासस्थान नहीं है। अज्ञानी ने जंगल में शांति मानकर जंगल से प्रेम किया परंतु आत्मा की ओर दृष्टि नहीं की, इसलिये जंगल में भी उसे शांति नहीं मिलेगी।

अहो! ऐसा दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त हुआ... उसमें जिन्हें लौकिक सज्जनता, मंद कषाय आदि भी न हो—ऐसे जीव तो मनुष्य-भव को व्यर्थ गँवा देंगे... और मात्र लौकिक मंद कषाय में ही धर्म मानकर रुक जायेंगे तथा चैतन्यतत्त्व क्या है?—उसे समझने की दरकार नहीं करेंगे... तो उनका जन्म भी निष्फल जायेगा, उन्हें आत्मा की शांति नहीं होगी। इसलिये आचार्य भगवान कहते है कि अरे, जीवों! ऐसा दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त हुआ है तो आत्मा के हित का प्रयत्न करो। यह शरीर और लक्ष्मी के संयोग तो आत्मा से भिन्न ही हैं, वे सब यहीं पड़े रहेंगे और आत्मा अन्यत्र चला जायेगा, इसलिये उन शरीरादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व क्या है—उसे

लक्ष में लो और उसमें निवास करो। यह शरीर तो क्षणभंगुर है, वह आत्मा का निवासस्थान नहीं है। ज्ञान-आनंदरूप स्वभाव ही आत्मा का निवासस्थान है। अरे, राग भी आत्मा का सच्चा निवास-धाम नहीं है; अनंत गुणरूप वस्तु ही आत्मा का सच्चा निवास-धाम है।

जो जीव, आत्मा के अनुभव से शून्य हैं, जो स्व में स्थित नहीं हैं, वे ही बाह्य में गाँव या जंगल में अपना स्थान मानते हैं। 'लोकसंसर्ग से राग-द्वेष होते हैं, इसलिये एकांत जंगल में रहूँ तो शांति हो'—ऐसी मान्यतावाले भी बहिरात्मा हैं। जिसप्रकार लोग बाह्य हैं, उसीप्रकार जंगल भी बाह्य है। लोकसंसर्ग का प्रेम छोड़कर जंगल का प्रेम किया तो वह भी बाह्यदृष्टि ही है। ज्ञानी तो लोकसंसर्ग छोड़कर अंतर के चैतन्यतत्त्व में निवास करते हैं। मुनि आनंद में झूलते और आत्मा में निवास करते हुए बाह्य जंगल में रहते हैं, परंतु इस जंगल के कारण मुझे शांति है—ऐसी बुद्धि नहीं है। वे मानते हैं कि—यह जंगल तो पर है, हमारा निवास तो अपने शुद्धस्वरूप में ही है.... अन्तरस्वरूप में एकाग्र हुए, वहाँ मानों सिद्ध भगवान के साथ बैठे। समस्त पदार्थों से विभक्त ऐसा जो अपना आत्मा, उसी में मुनि बसते हैं। जंगल में से आहारादि के लिये गाँव में आयें और लोगों के झुण्ड दिखायी दें, वहाँ मुनि को कहीं संदेह नहीं होता कि मैं स्वरूप से च्युत होकर लोकसंसर्ग में आ गया। चारों ओर भक्तों के झुण्ड हों, तथापि मुनि जानते हैं कि मेरा आत्मा, लोकसंसर्ग से पर है, अपने चैतन्यस्वरूप में ही मेरा निवास है। बाह्य में भक्तों के समूह में बैठा हो, इसलिये उसकी बाह्यदृष्टि है—ऐसा नहीं है; तथा बाह्य में लोगों का संग छोड़कर जंगल की गुफा में जाकर रहता हो, इसलिये उसकी बाह्यदृष्टि छूट गई है—ऐसा भी नहीं है। ज्ञानी जानते हैं कि मेरा आत्मा सर्व लोक से भिन्न ही है; ज्ञानानंदरूप मेरा आत्मा ही मेरा निवास-धाम है; ऐसी अंतर्दृष्टिपूर्वक, ज्ञानी उसी में एकाग्र होते हैं और चैतन्य के आनंद में एकाग्र होने से बाह्य संसर्ग के प्रति राग-द्वेष नहीं होता, इसलिये उन्होंने बाह्य संसर्ग छोड़ दिया—ऐसा कहा जाता है ॥७३॥

— सुख चाहिये तो अपने स्वभाव में ही भरा है, उसे देख लो, तुम धन्य हो जाओगे।

— ज्ञान में जिस समय जो कुछ जानने को मिला है, वह ज्ञान का व्यापार अपना ही स्वभाव है; ज्ञान के विषय को भला-बुरा मानकर संयोग पलटने की चेष्टा न करो।

ज्ञानी का मधुर अंतर्वेदन

अंतर के अमृतसागर में डुबकी लगाकर धर्मात्माओं ने चैतन्य-आनंद का जो मधुर वेदन किया है, उसके वर्णन द्वारा आचार्यदेव ने ज्ञानी की पहिचान करायी है; जो पहिचान अति आनंदकारी एवं अज्ञान का नाश करनेवाली है।

अज्ञान से ही विकार का कर्तृत्व है और ज्ञान से उस कर्तृत्व का नाश होता है;—ऐसा जो जीव जानता है, वह समस्त परभाव का कर्तृत्व छोड़कर ज्ञानमय होता है। निश्चय को जाननेवाले ज्ञानियों ने ऐसा कहा है कि आत्मा अज्ञान से ही विभाव का कर्ता होता है। जहाँ भिन्न चैतन्यस्वभाव की प्रतीति हुई, वहाँ अपने शुद्धचैतन्य के सिवा अन्यत्र कहीं आत्मविकल्प नहीं होता; इसलिये वह ज्ञानी समस्त परभावों को अपने स्वभाव से भिन्न जानता हुआ उसका कर्तृत्व छोड़ देता है।

देखो, यह ज्ञान का कार्य! जो ज्ञानी हुआ, वह आत्मा अपने चैतन्य के भिन्न स्वाद को जानता है। जहाँ चैतन्य के अत्यंत मधुर शांतरस के स्वाद को जाना, वहाँ कड़वे स्वादवाले कषायों में आत्मबुद्धि कैसे होगी? रागादिभाव मेरे स्वभाव में से उत्पन्न हुए हैं—ऐसा ज्ञानी को किंचित्मात्र भासित नहीं होता। शुद्धज्ञानमय परमभाव ही उसे अपना भासित होता है, इसलिये शुद्धज्ञानमय स्वभाव के आधार से उसे निर्मल ज्ञानभावों की ही उत्पत्ति होती है और उसी का वह कर्ता होता है। विकल्प की उत्पत्ति ही जहाँ मेरे ज्ञान में नहीं है, तो फिर उस विकल्प द्वारा ज्ञान की पुष्टि हो—यह बात कहाँ रही?—इसलिये ज्ञानी को ज्ञान से भिन्न समस्त विकल्पों का कर्तृत्व छूट गया है।

यह आत्मा अनादि से अज्ञानी वर्तता है, उसे अपने स्वभाव के स्वाद का तथा विकार के स्वभाव का भेदज्ञान नहीं है, इसलिये दोनों का एकमेकरूप अनुभव करता है; शरीर से भिन्नता की बात तो स्थूल है, यहाँ तो अंतर के अरूपी विकल्पों से भी चैतन्य की भिन्नता बतलाना है। अज्ञानी की भेदज्ञान करने की शक्ति मुँद गयी है। भेदज्ञान करने की शक्ति तो प्रत्येक आत्मा में है, परंतु अज्ञानी उस शक्ति को प्रगट नहीं करता, उसकी वह शक्ति अनादि से मुँदी हुई है। ऐसे अज्ञान के कारण ही वह अपने को और पर को एकमेक मानता है, ज्ञान का और राग का

एकमेक अनुभव करता है। 'मैं चैतन्य हूँ'—ऐसा स्वानुभव करने के बदले 'मैं क्रोध हूँ, मैं राग हूँ'—ऐसा वह अनुभव करता है। अहा, दिव्यध्वनि चैतन्य के एकत्वस्वभाव का ढिंढोरा पीटती है, गणधर संत और चारों अनुयोग के शास्त्र भेदज्ञान का ढिंढोरा पीटकर कहते हैं कि चैतन्यस्वभाव तो अनादि-अनंत अकृत्रिम, निर्मल विज्ञानघन है और रागादिभाव तो क्षणिक, नवीन, पराश्रय से उत्पन्न हुए मलिन भाव हैं, उनमें एकता कैसे हो सकती है?—नहीं हो सकती; परंतु अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभाव से भ्रष्ट होकर बारंबार अनेक विकल्परूप से तद्रूप परिणमित होता हुआ उनका कर्ता प्रतिभासित होता है।

यहाँ तो वह कर्तृत्व छूटने की बात समझाना है। 'रागादि का कर्तापना अज्ञान से ही है'—ऐसा जो जीव जानता है, वह उस रागादि के कर्तृत्व को अत्यन्तरूप से छोड़ता है। मेरे चैतन्यस्वभाव में राग का कर्तृत्व है ही नहीं; राग की खान मेरे चैतन्य में नहीं, मेरी चैतन्यखान में तो निर्विकल्प अनाकुल शांतरस भरा है। शांतरस का स्वाद ही मेरा स्वाद है, जो आकुलता है, वह मेरा स्वाद नहीं है, वह तो राग का स्वाद है, इसप्रकार दोनों के स्वाद को अत्यन्त भिन्न जानता हुआ ज्ञानी चैतन्य का और राग का एक स्वादरूप से अनुभव नहीं करता, परंतु चैतन्य के स्वाद को राग से भिन्न ही अनुभव करता है। चैतन्य के आनंदनिधान को पहले अज्ञान से ताला दे रखा था, उस ताले को भेदज्ञानरूपी चाबी से खोल दिया, चैतन्य के आनंद-निधान को खोलकर उसका स्वसंवेदन किया। जहाँ अपने निज-रस को जाना, वहाँ विकार का रस छूट गया, उसका कर्तृत्व छूट गया। पहले निरंतर विकार का स्वाद लेता था, उसके बदले अब निरंतर स्वभाव के आनंद का स्वाद लेता है।

देखो, यह चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्वी धर्मात्मा की दशा! जो साधक हुआ, जो मोक्ष के पंथ पर पहुँचा, जिसे अंतर में चैतन्य से भेंट हुई—ऐसे धर्मात्मा ज्ञानी मति-श्रुतज्ञान से चैतन्य के अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वसंवेदन करते हैं... अहा, चैतन्य का रस जगत के रस से भिन्न जाति का है। इन्द्रपद के वैभव में भी वह रस नहीं है। सम्यक्त्वी इन्द्र जानते हैं कि हमारे चैतन्य के अतीन्द्रिय स्वाद के समक्ष यह इन्द्रपद तो क्या, सारे जगत का वैभव भी तुच्छ है! चैतन्य का रस अत्यंत मधुर... अत्यंत शां...त! अत्यंत निर्विकार...! जिसके संवेदन से ऐसी तृप्ति होती है कि सारे जगत का रस उड़ जाये। शां...त, शां...त चैतन्य का मधुर वेदन हुआ वहाँ आकुलताजनक ऐसे कषायों का कर्तृत्व कैसे रहेगा? वहाँ तो कषायों से अत्यंत भिन्नता

की प्रतीति हो गयी। देखो, स्वसन्मुख होकर ऐसे स्वाद का स्वसंवेदन करने की मति-श्रुत ज्ञान की शक्ति है। मति-श्रुत को स्वोन्मुख करके धर्मात्मा ऐसे चैतन्यस्वाद का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करते हैं।

अहा, देखो तो आचार्यदेव ने कैसे शांत भाव भरे हैं! अमृत का सागर उल्लसित हो—ऐसी बात इस समयसार में अमृतचंद्र आचार्यदेव ने समझायी है।

साधक की अंतर में क्या स्थिति है, उसकी जगत के जीवों को खबर नहीं है; उसके हृदय के गंभीर भावों को जानना साधारण जीवों को कठिन मालूम होता है। समझना चाहे तो सब सुगम है। इन भावों को समझे तो अमृत का सागर उमड़ने लगे और विष का स्वाद छूट जाये। यह भेदज्ञान की महिमा है। भेदज्ञान होते ही जीव की ऐसी दशा होती है। ज्ञानी धर्मात्मा चैतन्यरस का स्वाद लेकर जगत के सर्व स्वादों के प्रति उदासीनदशावान हुआ है, रागादि को भी अत्यंत उदासीनदशावान रहकर मात्र जानता ही है, परंतु उनका कर्ता नहीं होता।—इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव को ही स्व-रूप से अनुभवता हुआ ज्ञानी निर्विकल्प-अकृत्रिम-एक विज्ञानरूप परिणमित होता हुआ अन्य भावों का अत्यन्त अकर्ता ही है।—ऐसी दशा से साधक की पहिचान होती है। ऐसी अंतरदशा से ज्ञानी को पहिचानने पर अति आनंद होता है और विकार में तन्मयबुद्धिरूप अज्ञान का नाश होकर अपूर्व भेदज्ञान प्रगट होता है।

सिद्धपद का स्वर्णावसर

अरे जीव! तुझे मनुष्यजीवन का स्वर्ण-अवसर प्राप्त हुआ है, उसमें सिद्धपद की साधना कर, उसे सफल कर। यह समझकर प्रत्येक क्षण का सदुपयोग कर।

विविध-समाचार

जैनदर्शन शिक्षण-शिविर

सोनगढ़ में प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी श्रावण शुक्ला पंचमी तारीख ३०-७-६८ से जैनदर्शन शिक्षण-शिविर का प्रारम्भ हुआ और २० दिन बाद भाद्र कृष्णा ९ रविवार तारीख १८-८-६८ के दिन उसकी समाप्ति हुई। इस बार शिक्षण-शिविर में भाग लेने के लिये विभिन्न नगरों एवं ग्रामों से करीब ४१० शिक्षार्थी आये थे। शिक्षण के साथ-साथ पूज्य स्वामीजी की अमृतवाणी का अपूर्व लाभ भी प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल एक-एक घण्टे तक मिलता था। शिक्षण-शिविर की समाप्ति के बाद घर को लौटते समय अनेक शिक्षार्थियों ने पूज्य स्वामीजी के प्रति हार्दिक उपकार-अंजलि व्यक्त की थी।

मध्यप्रदेश दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल का अधिवेशन

भोपाल मुमुक्षु मंडल म.प्र. में अनेक मुमुक्षु मंडलों का संचालन कर रहा है। जिनका अधिवेशन सोनगढ़ में परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी की छत्रछाया में तारीख १५-८-६८ को हुआ। सागर निवासी जैनजातिभूषण सेठ भगवानदास शोभालालजी जो म.प्र. मुमुक्षु मंडल के अध्यक्ष हैं—आपकी अध्यक्षता में भोपाल, विदिशा, उज्जैन, इंदौर, नागपुर, कानपुर, मैनपुरी, शाहपुर, सेंधपा, मलहरा, खडेरी, खुरई, इटावा, जसवंतनगर, राघौगढ़, भिंड, मंदसौर, देहली, सहारनपुर, बड़ौत, कोटा, उदयपुर, आहोर, जयपुर, कुशलगढ़, दोहद आदि ४० गाँव के तथा गुजराती २५ गाँव के मुमुक्षुगण उपस्थित थे।

प्रारंभ में पूज्य स्वामीजी ने मंगलपाठ द्वारा आशीर्वाद दिया, पश्चात् लश्कर निवासी पंडित धन्नालालजी ने भोपाल की संस्था की उत्पत्ति एवं वृद्धि का वर्णन करके गुरुदेव का उपकार प्रगट किया।

मंत्री श्री डालचंदजी (भोपाल) ने म.प्र. मुमुक्षु मंडल की स्थापना से लेकर आज तक मंडल की व्यवस्था आदि का विवरण पढ़कर सुनाया। भोपाल मंडल के आश्रय से गुना, विदिशा, अशोकनगर, भोपाल, बीना आदि अनेक नगरों में जैन शिक्षण-शिविर का आयोजन किया गया था। मंत्री, श्री डालचंदजी ने कहा कि ग्रीष्मावकाश में शिक्षण-शिविर लगाने के लिये हमारे पास नौ जगह से आमंत्रण आये थे। हमने सोनगढ़ से प्रार्थना की, परंतु विद्वानों की

व्यवस्था न हो सकी। हमें दूसरा कुछ नहीं चाहिये, सर्वज्ञ-वीतरागकथित तत्त्वज्ञान के प्रचारक चाहिये। रात्रि को हिम्मतनगर-पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव की फिल्म थी। फिल्म प्रदर्शन के पश्चात् ९ बजे से मध्यप्रदेश मुमुक्षु मंडल के अधिवेशन की कार्यवाही पुनः प्रारंभ हुई जो १०.०० बजे तक चलती रही। विद्वानों ने संक्षेप में निवेदन किये।

श्री बाबूभाई ने कहा कि—जो लोग सोनगढ़ में परमोपकारी पूज्य गुरुदेव की छत्रछाया में तथा माननीय श्री रामजीभाई एवं खेमचंदभाई आदि विद्वान पुरुषों की संगति में रहनेवाले हैं, उन्हें तत्त्वज्ञान की इतनी लगन है कि वे बाहर गाँव प्रचारार्थ नहीं जाना चाहते। इसलिये बाहर के मुमुक्षु मंडलों का कर्तव्य है कि वे स्वयं उस कार्य के लिये तैयार हो जायें। गाढ़ रुचि से स्वाध्याय करें, दूसरों में प्रचार हेतु नहीं किंतु अपने ही कल्याणहेतु स्वाध्याय की शक्ति को बढ़ायें। आज जिसकी बड़ी आवश्यकता है, उस जिनवाणी के रहस्य को सुगम बनावें।

श्री पंडित हिम्मतलालजी बम्बईवालों ने कहा कि—मैं समस्त मुमुक्षु मंडलों से निवेदन करता हूँ कि यदि आप लोग वास्तव में कार्य करना चाहते हैं तो किसी अन्य पर भरोसा न रखकर स्वयं दृढ़ संकल्प सहित तैयार हो जायें और सोनगढ़ में आकर जितना हो सके अपने कल्याण हेतु अभ्यास करें तथा निस्पृहता से उपदेश देने और शिक्षण कक्षायें चलाने में योग्य बनें। जो तैयार हो चुके हैं, उनसे मैं अनुरोध करता हूँ कि संकोच छोड़कर प्रचार-कमेटी की आज्ञा का पालन करें। प्रत्येक गाँव में जिनवाणी के शास्त्रभंडार रखें, अल्प मूल्य में या भेंटस्वरूप अधिक से अधिक साहित्य-प्रचार करें।

श्री नेमिचंदजी रखियालवालों ने कहा कि—'न धर्मो धार्मिकैर्विना' मैं सब साधर्मीजनों से अनुरोध करता हूँ कि—अपनी शक्ति न छिपाकर डटकर सहयोग दें, पुस्तक, मंदिर व धनादिक के आधार पर धर्म नहीं रहेगा, किंतु अपूर्व तत्त्वदृष्टि जागृति द्वारा आत्महित में सावधान रहकर इस पवित्र कार्य में योगदान दें, उसमें संकोच न करें, तभी धर्मप्रचार हो सकता है। समाज को सच्ची लगनवाले तथा योग्य प्रचारकों की आवश्यकता है।

श्री डालचंदजी ने कहा—हमारे गुरुजनों ने जो मार्गदर्शन दिया है, उस पर हम गंभीरता से विचार करेंगे। पूज्य स्वामीजी ने जो सर्वज्ञ-वीतरागकथित अमृत का प्रवाह बहाया है, वह किसी से रुकनेवाला नहीं है। जिन जिज्ञासुओं को इस उपदेश का भावभासन हो जाता है, वे अवश्य अपूर्वरूप में आत्मविभोर हो जाते हैं। हमें प्रकाश मिला है, और इसलिये एकत्र हुए हैं।

श्री नेमीचन्दभाई का स्वप्न अवश्य साकार होगा, हम उनकी पवित्र प्रेरणा को निभायेंगे ऐसा विश्वास दिलाते हैं।

श्री प्रहलादजी मंदसोर (म.प्र.) ने कहा—हमारे इस प्रचार में कोई कठिनाई नहीं है। जिनवाणी के द्वारा अभ्यास का बल इस शैली से ही बढ़ सकता है। हमें प्रसन्नता है कि हम स्वाध्याय के द्वारा इस पवित्र रस को बढ़ा रहे हैं। हम चाहते हैं कि प्रत्येक घर में जैन सिद्धांत प्रवेशिका, समयसार, मोक्षमार्गप्रकाशक आदि साहित्य पहुँचना चाहिये। हम तो बालक हैं, अग्रणियों से प्रार्थना है कि आप छोटे-छोटे स्थानों पर भी पधारें। इस विज्ञान के युग में वीतरागी विज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक जिज्ञासु में साहित्य-वितरण हो, यह हमारा सुझाव है।

श्री बाबूलालजी जैन वैद्य (खुरई) ने सबकी प्रेरणा को बल दिया तथा सुझाव दिया कि शिक्षण-शिविर की उत्तम-मध्यम कक्षाओं में पढ़नेवाले जो भाई विशेष योग्यतावान हैं, उन्हें धार्मिक शिक्षण देने की शैली भी सिखायी जाये, जिससे नये-नये विद्वान तैयार हों और प्रचार का कार्य सुगम हो।

आदरणीय श्री रामजीभाई (भूतपूर्व अध्यक्ष-श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़) ने सुझाव दिया कि सोनगढ़ आकर योग्यता बढ़ाकर पद्धतिसर अभ्यास द्वारा लाभ ले सकें—ऐसे भाई हों तो मंडलों से प्रार्थना है कि उन्हें खर्च देकर सोनगढ़ भेजें, जिससे प्रचारकों की कमी को पूरा किया जा सके।

श्री ज्ञानचंदजी (विदिशा) ने कहा—सर्वज्ञ वीतरागकथित प्रचार में श्री डालचंदजी जैसे विद्वानों से प्रार्थना है कि भोपाल मुमुक्षु मंडल में ऐसी जोरदार शक्ति है जो सारे भारत में इस प्रकाश का प्रचार-प्रसार कर सके। उसके द्वारा जैन समाज को बहुत लाभ मिला है। मेरी बात—मैं तीन साल पूर्व सोनगढ़ आया था, भोपाल से यहाँ का साहित्य पाकर सवेरे ४ से ६ बजे तक हमेशा स्वाध्याय करने लगा। प्रारंभ में दो ही जिज्ञासु साथी थे, आज बिना बुलाये १०० की संख्या में प्रातः ४ बजे उठकर परमप्रेम सहित एकत्र होकर जिनागम अनुसार स्वाध्याय कर रहे हैं। और यद्यपि मैं तो अपने को बहुत छोटा समझता हूँ, फिर भी भोपाल मंडल मुझे प्रचारार्थ जहाँ भी जाने की आज्ञा करेगा, वहाँ अपने निजी खर्च से जाने के लिये तैयार हूँ। और आप लोग तो विदिशा के समीप ही हैं, इसलिये हर रविवार को हमारे यहाँ पधारकर दो-तीन घंटे के कार्यक्रम दें।

श्री पंडित भगवानदासजी (रायपुर) ने कहा कि—हमें इस दुर्लभ अवसर को समझना चाहिये और पूज्य स्वामीजी द्वारा जो सच्चा ज्ञानप्रकाश हमें मिला रहा है, उसकी श्रद्धासहित स्वाध्याय और प्रचार होना चाहिये। जो कि लोगों को कल्याण का कारण है।

श्री जयंतीप्रसादजी (इटावा)—आपने कहा कि मैं तीन साल से सोनगढ़ के परिचय में आया हूँ। मुझे जो आनंद आ रहा है, उसे वचन द्वारा नहीं कह सकता। हमारे यहाँ जिनवाणी के रहस्य को समझने के लिये कोई तैयार नहीं, जिज्ञासा भी नहीं है। जैनों के घर बहुत होते हुए भी कोई स्वाध्याय में नहीं आता, किंतु एक योग्य अजैन बन्धु लगातार छह महीने से सवेरे छह बजे आता है, प्रेम से गद्‌गद् होकर कहता है कि अहो! ऐसी बात कभी नहीं सुनी... और पूज्य गुरुदेव का महान उपकार मानता है। हमारे यहाँ २० साल से जैन पाठशाला है, मेरा विचार है कि इस शैली से चले ऐसी योजना करूँ, किंतु ऐसा कोई पंडित नहीं मिलता। अब तो मैंने निर्णय किया है कि अपने लिये कल्याण की भावना बलवती बनाऊँ। मैं आपको सुझाव में प्रार्थना करता हूँ कि सोनगढ़ में चलनेवाले उत्तम-मध्यम-प्रथम वर्ग की कक्षाओं में जो शिक्षण चल रहा है, वह टेपरील में भरकर हमारे यहाँ पाठशालाओं और धार्मिक कक्षाओं में चलाया जाये एवं समझाया जाये। यह कार्य बहुत जरूरी होने से शीघ्र अमल में लाया जाये; कारण कि इससे छोटे-बड़ों को बहुत प्रेरणा मिल सकती है। (यह सुझाव सबने खूब पसंद किया है।)

मंत्री श्री डालचंदजी ने आभार व्यक्त किया, पश्चात् तीन वर्ष के लिये चुनाव हुआ। अध्यक्ष, मंत्री आदि सभी पूर्ववत् रहे, मंत्री विभाग में ज्वाइंट सेक्रेटरी में श्री ज्ञानचंदजी (विदिशा) और कार्यमंत्री में श्री पूनमचंदजी छाबड़ा (इंदौर) को चुना गया है।

—ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

** ** **

श्री मक्सीजी पार्श्वनाथ तीर्थक्षेत्र के लिये अति-उपयोगी निवेदन

श्री डालचंदजी तथा श्री बाबूभाई ने कहा कि मध्यप्रदेश मुमुक्षु मंडल की कार्यवाहक कमेटी का इस क्षेत्र में बहुत कुछ सहयोग देने का उत्तरदायित्व है। हमारे लिये जितना महत्व जिनवाणी का है, उतना ही महत्त्व देव-आयतनों का है, वहाँ भी धार्मिक शिक्षण कक्षाएँ लगाई जायें, तथा मेले के समय विशेष कार्यक्रम द्वारा क्षेत्र को मजबूत बनाने की योजना बनायी जाये। हमारे मंडलों का पवित्र कर्तव्य है कि मक्सीजी क्षेत्र की सुरक्षा में योगदान दें। मक्सीजी की

मालिकी दिगम्बर जैनों की ही है, किंतु पैसे के बल पर श्वेताम्बरों द्वारा हमेशा हमको परेशान किया जाता है। समाज को पैसा देने में दिक्कत नहीं है, किंतु ज्यादा से ज्यादा लोग वहाँ दर्शन-वंदनार्थ जायें, धार्मिक उत्साह एवं जागृति पैदा करें और आम-जनता के बीच में जाकर सारे समाज को इस बात का परिचय दें। श्री बाबूलालभाई ने भी सुंदर प्रेरणा की तथा मदद करने का अनुरोध किया। श्री फूलचंदजी झांझरी (उज्जैन) जो इस क्षेत्र के मंत्री व व्यवस्थापक हैं, आपने क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण विशेषता बतलाई और कहा कि यहाँ रेलवे जंक्शन है, क्षेत्र में दिगम्बर जैन गुरुकुल है। बड़ी संख्या में यात्रीगण आते हैं। जो जैनबंधु वहाँ आकर रहने की कृपा करेंगे, उन्हें सानंद आजीविका के साधन और सुविधा देंगे। वहाँ दिगम्बर जैन संख्या बढ़ाना है।

पत्र-व्यवहार का पता—
फूलचंद झांझरी
मु० कंठाल, पो० उज्जैन (मध्यप्रदेश)

धर्मप्रभावना के समाचार

हमारे यहाँ पंडित श्री धन्नालालजी (ग्वालियर) १३ जून १९६८ को पधारे। जिनके द्वारा तीन दिन तक अध्यात्म की अपूर्व वर्षा हुई। जिसमें अनेक भव्य जीवों ने अपने मिथ्या संस्कारों को धोने का क्रम अपनाया। निश्चय-व्यवहार की संधि तथा उनमें हेय-उपादेय विचार एवं निमित्त-नैमित्तिक संबंध के कथन का क्या आशय है और क्रम-नियत पदार्थों के परिणमन को समझने से मोक्षमार्ग के योग्य अनंत पुरुषार्थ होता है।—इत्यादि बातों का विशेष स्पष्टीकरण किया, जिसके द्वारा पूज्य कानजीस्वामी के प्रति विशेष आस्था हो गयी। यहाँ सभी जन आज के युग में आत्मकल्याण में मूल कारण स्वामीजी को मानते हैं।

आज से १००० वर्ष पूर्व जबकि अमृतचंद्र आचार्य थे, उनके बाद आज वस्तुस्वरूप को यथार्थ बतलानेवाले एकमात्र सौराष्ट्र के संत पूज्य कानजीस्वामी हुए हैं।

पंडितजी सा. की सन्मानपूर्वक दिनांक १५-६-६८ को विदाई की गयी। पंडितजी के द्वारा इस प्रान्त में विशेष जागृति हो रही है। उसके लिये हम पंडितजी एवं सोनगढ़ ट्रस्ट के आभारी हैं।

सांधेलिया विजयकुमार
बरायठा (सागर) मध्यप्रदेश

बागीदौरा (राज.)—यहाँ अष्टाह्निका पर श्री नेमीचंदजी को बुलाया गया था;

प्रतिदिन मोक्षमार्ग-प्रकाशक पर प्रवचन होते थे; प्रातःकाल ४ बजे भी स्वाध्याय होता था, सर्वज्ञ वीतरागकथित निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार की व्याख्या करके प्रयोजनभूत बात बहुत उत्तम ढंग से समझायी। इस अवसर पर मंदिरजी की बहुत प्राचीन जीर्णशीर्ण वेदी का जीर्णोद्धार कराके विधिपूर्वक श्रीजी को विराजमान किया गया। श्री नेमीचंदजी द्वारा दिये गये दान के उपदेश से इतना प्रभाव पड़ा कि १५ हजार रुपये एकत्र हो गये। लोगों को अध्यात्म में रुचि होने लगी है। उनके साथ श्री चंदुभाई व भोगीलालजी पधारे थे; आपके द्वारा हमेशा जिनेन्द्रभक्ति का प्रोग्राम होता था। उस समय बड़ी भारी भीड़ रहती थी। रथयात्रा निकाली गई थी। जैनेतर समाज भी शामिल थे; बहुत उत्तम प्रभावना हुई।

वंसतलाल दोशी, मंत्री
समस्त दिगम्बर जैन समाज बागीदौरा

महाराष्ट्र में श्री ब्रह्मचारी दीपचंदजी शिरड-शाहपुर, फालेगाँव, चोपडा, पारोला, जलगाँव आदि स्थानों पर टेपरिकार्डिंग-रीलों से भरे हुए पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन तथा तीर्थयात्रा फिल्म-प्रदर्शन और जैनदर्शन शिक्षण कक्षाओं द्वारा दिगम्बर जैन समाज में अच्छी धर्म-जागृति उत्पन्न करते हुए भ्रमण कर रहे हैं।

जिन स्वपर हिताहित चीना, जीव ते ही हैं सांचे जैनी।टेक०॥
जिन बुधछैनी पैनीतैं जड़, रूप निराला कीना।
परतैं विरच आपसे राचे, सकल विभाव विहीना।जिन०॥१॥
पुन्य पाप विधि बंध उदय में, प्रमुदित होत न दीना।
सम्यक्दर्शन ज्ञान-चरण निज, भाव सुधारस भीना।जिन०॥२॥
विषय चाह तजि निज वीरज सजि, करत पूर्वविधि छीना।
भागचंद साधक ह्वै साधत, साध्य स्वपद स्वाधीना।जिन०॥३॥

दस लक्षण धर्म

"दंसण मूलो धम्मो"

नये प्रकाशन

छहढाला (सचित्र)

सर्वज्ञ-वीतराग कथित सर्व शास्त्रों के साररूप यह ग्रंथ पाठ्य-पुस्तकरूप में भी जैन समाज में अति-प्रचलित है। इसमें पंडित श्री दौलतरामजी ने जैन-तत्त्वज्ञान को गागर में सागर की भाँति भर दिया है। रंगीन चित्रों के कारण पढ़ने में विशेष रुचि और समझने में सरलता रहती है। पृष्ठ संख्या २१०, लागत मूल्य-१-५० होने पर भी मात्र १) में; कमीशन नहीं है।

अपूर्व अवसर-प्रवचन

[श्रीमद् राजचंद्रजी कृत 'अपूर्व अवसर' काव्य पर पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन]

यह काव्य अत्यंत रोचक, आत्मिक उत्साहमय, अध्यात्मरस से भरपूर बारंबार पढ़ने योग्य हैं; खूब माँग होने से यह इसकी तीसरी आवृत्ति है। इस बार इसमें पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी के सुपुत्र पंडित श्री गुमानीरामजी कृत बृ० समाधिमरणस्वरूप तथा पंडित जयचंदजी कृत बारह भावना का समावेश किया है।

श्री सेठी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ संख्या १८०, मूल्य १)५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन।

चिद्विलास

अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, ज्ञानदर्पण, अध्यात्म-पंचसंग्रह, भावदीपिकादि ग्रंथों के कर्ता, अध्यात्मतत्त्व द्रव्यानुयोग के विशेषज्ञ अधिकारी, अनुभवी विद्वान श्री दीपचंदजी शाह कासलीवाल कृत यह 'चिद्विलास' ग्रंथ जो प्रवचनसार आदि परमागम के संक्षेप साररूप है; अनेक शास्त्रों के गहन अध्ययन चिंतन के फलरूप सुंदर, रोचक और प्रौढ़ रचना है। हरेक स्वाध्याय प्रेमी को बारंबार पढ़नेयोग्य है।

सेठी ग्रंथमाला से प्रकाशित दूसरी आवृत्ति पृ० सं० १९६, मूल्य १-५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन पोस्टेज अलग।

प्राप्तिस्थान : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :
मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)